वैशाली के राजकुमार
तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर

श्री वीर निर्वाण ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति,
इन्दौर द्वारा प्रकाशित
द्वितीय पुष्प
प्रथमावृत्ति १९७२

दो रुपये

आवरणसहित सज्जा : संतोष ज़ड़िया
मुद्रक : नई दुनिया प्रेस, इन्दौर

□

VAISHALI KE RAJKUMAR TIRTHANKAR
WARDHMAN MAHAVEER

DR. NEMICHAND JAIN

वैशाली के राजकुमार
तीर्थंकर
वर्द्धमान महावीर

- डॉ० नेमीचन्द जैन

OO

द्वितीय पुष्प

श्री वीर निर्वाण-ग्रथ
प्रकाशन-समिति, इन्दौर

४८, सीतलामाता बाजार,
इन्दौर-२, मध्यप्रदेश

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक श्री वीर निर्वाण-ग्रन्थ-प्रकाशन-समिति, इन्दौर का द्वितीय पुष्प है; आकार में लघु, उद्देश्य में विराट। इसके पूर्व समिति ने पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की बहुमूल्य कृति 'निर्मल आत्मा ही समयसार' का अपने प्रथम पुष्प के रूप में प्रकाशन किया है। तीसरे पुष्प के रूप में डॉ. प्रेमसागर जैन की ऐतिहासिक कृति 'भरत और भारत' के प्रकाशन की योजना है। समिति का संकल्प है कि २५०० वें वीर-निर्वाणोत्सव तक कम-से-कम २५ उत्तम पुष्पों की एक मनोज्ञ माला तैयार हो जाए; यदि विद्वानों ने अपेक्षित सहयोग दिया तो मुझे विश्वास है समिति अपने इस सकल्प को सहज ही पूरा कर लेगी। 'वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर' बृहद् महावीर चरित्र की पूर्वपीठिका के रूप मे प्रकाशित है। मुझे आशा है डॉ. नेमीचंद जैन द्वारा लिखित यह पुस्तक देश-प्रदेश के घर-घर, गाँव-गाँव, शहर-शहर में प्रचारित होगी और व्यापक रूप में चाव से पढ़ी जाएगी। इसका मूल्य लागत से कम है और इसकी अपनी एक मौलिक सांस्कृतिक, नैतिक और साहित्यिक मिठास है। मेरा निवेदन है कि पाठक इसे पढ़ें और तीर्थंकर महावीर के जीवन से प्रेरणा ग्रहण करें।

विश्ववन्द्य तीर्थंकर महावीर का जीवन स्वयं ही एक अविस्मरणीय और आचरणीय संदेश है, जो आज की विषम, अशान्त और अभिशप्त स्थिति में मन को सुख और शान्ति देने वाला है। ग्रन्थमाला इस पुस्तक के रूप में युग की देहरी पर एक दीपक रख रही है, इस आशा में कि इससे कोटि-कोटि जन-मन रोशनी में उमग उठेंगे और निज में एक अपूर्व आध्यात्मिक दीपमालिका का अनुभव करेंगे।

इस पुस्तक को तैयार करने में लेखक ने जो श्रम किया है और परम पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी, माला के प्रधान संपादक पं. श्री नाथूलालजी तथा परामर्श-मण्डल के सदस्य पं. श्री पद्मचन्द्रजी ने जो सहयोग दिया है, उसके प्रति समिति गहरी कृतज्ञता का अनुभव करती है।

महावीर जयन्ती
२४९८

मन्त्री

यह पुस्तक

यह एक ऐसी कृति है जो अतीत और वर्तमान के बीच एक आध्यात्मिक रिश्ता कायम करने की सांस्कृतिक पहल करती है; वस्तुतः इसमें तथ्यों का उतना महत्त्व नहीं है, जितना उनके प्रति एक संवेदनशील समझ विकसित करने का। ठीक-ठीक समझ और सही तलाश आदमी को तंगगली से उबार कर एक स्वस्थ धरातल पर ले आते हैं; वहाँ, जहाँ न कोई फिरका है, न कोई संप्रदाय; न वर्ग है, न जाति; यदि वहाँ कुछ है तो वह है एक सम्प्रदायातीत निर्मल हृदय। लेखक ने इस पुस्तक को एक ऐसी ही प्रांजल और स्वाधीन चित्तवृत्ति मे ठहरकर लिखा है। असल मे तीर्थंकर महावीर के अस्तित्व-बोध का प्रश्न उतना जटिल नहीं है, जितना व्यक्तित्व-बोध का। अस्तित्व तो उनका सभी मानते हैं; इतिहास भी, आम आदमी भी; किन्तु व्यक्तित्व की सही परख और अनुभूति की ओर किसी का ध्यान नही है। वह राह कंटीली भी है। प्रस्तुत कृति मे लेखक की आँख महावीर के व्यक्तित्व पर जमी हुई है। यह एक दुःसाध्य कार्य था कि एक लघुकाय जेबी किताब में उनके विराट व्यक्तित्व को स्थापित किया जाए, पूरी ताकत से पुकारा जाए; तथापि यह हुआ है और वह पुस्तक मे सर्वत्र सहज ही व्याप्त है। लेखक ने उन्हें धर्म की पूजनीयता में भी रखा है और एक आम मानव की भाँति भी, दोनों रूपों मे वे महान् हैं।

यथार्थ में यहाँ उन्हें सम्प्रदायों के धुंधलकों से बचाकर एक ऐसे ज्यातिर्मान क्षितिज पर प्रतिष्ठित देखा गया है, जहाँ उनके रूप मे कई शताब्दियाँ एकत्रित हैं: ऋषभनाथ का योग, नमिनाथ की अनासक्ति, नेमिनाथ की करुणा, पार्श्वनाथ की सहिष्णुता सभी तीर्थंकर महावीर में एक

लोकाभिमुख मुद्रा में विराजमान हैं। लेखक ने इन सब को शब्दांकित करने का विनम्र प्रयास किया है। पुस्तक का एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसकी पीठ पर तीर्थंकर महावीर की वीतराग मुद्रा शुभाशीष का हाथ उठाये न खड़ी हो। सर्वत्र उनके अकृत्रिम व्यक्तित्व की अनुगूंज है।

यह न काव्य है, न इतिहास; न कहानी, न उपन्यास, न नाटक, न भाव; न समीक्षा, न शोध-प्रबन्ध; तथापि इसमें ये सब एक साथ पकड़े हुए हैं। प्यास है, तथ्य हैं; कुतूहल है, तड़प है; गति है, विनोद है; विश्लेषण है, गाम्भीर्य है। सच तो अन्ततः यह है कि लेखक ने इसे अपने प्राण-कोहे की प्यास बुझाने के लिए लिखा है और उसने स्वाति-बिंदुओं की इस उपलब्धि-यात्रा में जो भी पाया है, उसे पूरे अर्पण भाव से उलीच दिया है। उसे इसकी चिन्ता कभी नहीं रही कि कौन खुश हुआ है और कौन नाखुश; वह लिखकर तृप्त हुआ है।

तीर्थंकर-परम्परा ने विश्व को ज्ञान की जो दीपमालिकाएँ दी हैं, इस पुस्तक में उनकी एक इकट्ठा रोशनी उन्मुक्त है; जो, जब और जहाँ चाहे अपनी आत्म-दीपशिखा को वहाँ से जो सकता है। तीर्थंकर महावीर का समग्र जीवन एक ऐसी पुण्यज्योति है, जो खरचने से कभी खुटती नहीं, बल्कि बढ़ती ही बढ़ती है। वह वर्द्धमाना है। इसलिए लेखक ने उनके जिस जीवन-प्रसंग को इतिहास या लोकश्रुति की अंगुली पकड़कर कल्पना के रंगों में संजोने का प्रयत्न किया है, उसे वह एक ही बैठक में नहीं संजो सका है। पुलक ने उसे रसास्वाद के लिए ठहराया है। चन्दनबाला के साथ उसने भी तीर्थंकर वर्द्धमान को कोदो का आहार दिया है और नन्द्यावर्त्त की बीच की मंजिल पर तीर्थंकर के अँगुलि-संकेतों से उसने भी कौए में से अनेकान्त को जाना है। वह माता त्रिशला के मातृत्व की सुखद छाँव में जिया है और उसने पिता सिद्धार्थ के लौह

किन्तु सुमनादपि सुकुमार पितृत्व को निकट से छुआ है। वह यज्ञ-पशुओं की चीखती कतारों के बीच होकर गुजरा है और उसकी चेतना को यज्ञकुण्डो की लपटों ने झुलसाया है; वह इन्द्रभूति गौतम के साथ तीर्थंकर के समवशरण में भी जा सका है; आप भी वैसा कर सकेंगे, अनुभूति के रथ पर किसी भी मनोरथ की पूर्ति संभव है; शर्त यह है कि अनुभूति सच्ची हो, एकाग्र हो, ज्ञानोन्मुख हो।

देशना का खण्ड यद्यपि अलग है तथापि तीर्थंकर महावीर के उपदेश उनके जीवन में गुत्थमगुत्थ हैं, अभिन्न हैं, उन्हें पुस्तक मे सर्वत्र सुना जा सकता है। उनका सारा जीवन ही उपदेश है, एक मंगलमय सुखद प्रवचन। संपूर्ण पुस्तक चार खण्डों में बँटी हुई है: पूर्वाभास, जीवन, प्रसंग, देशना। ये चारो जीवन के आँगन में एक बेजोड़ मंगल चौक पूरने में समर्थ हुए हैं, जहाँ बैठकर कोई भी आत्मबोध में प्रवृत्त हो सकता है। वैसे चारों खण्ड स्वतन्त्र भी हैं और परस्पर पूरक भी तथापि इनका एकत्रित रूप ही अधिक खिला हुआ है।

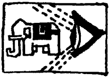
पुस्तक में उद्धरणों की भीड बिलकुल नहीं है। न उद्धरण हैं और न लम्बी-चौड़ी पाद-टिप्पणियाँ; हैं तो अनुभूतियों की सुखद अमराइयाँ जहाँ पाठक का श्रान्त चित्त विरम सके। लेखक का विश्वास है कि उद्धरणों से पाठक की स्वाभाविक ज्ञान-यात्रा रुद्ध होती है और आस्वाद भंग होता है; इसीलिए लेखक ने तीर्थंकर महावीर के जीवन को चतुर्दिक् खोजा बहुत है किन्तु जो भी कहा है, अपने ढंग से, इसमें उसने किसी की पराधीनता स्वीकार नहीं की है। वैसे देखा जाए तो सारी पुस्तक मे लेखक का कुछ भी नहीं है। उसकी कलम की दो फलकों में से एक तीर्थंकर महावीर की है, एक पूज्य मुनिश्री विद्यानन्दजी की; रोशनाई में दमक है श्रद्धेय पं.श्री नाथूलालजी और पं. पद्मचन्द्रजी की, सुविधाओं और अनुकूलताओं के कागज-पत्तर भाई श्री बाबूलालजी पाटोदी और भाई

माणकचन्दजी पंड्या के अनुग्रह है । विचारों को सजिल्द कर देने का काम नई दुनिया प्रेस के सहृदय प्रबन्धक भाई श्री हीरालालजी झांझरी का है । संतोष जड़िया की रेखाओ ने वह सब कह दिया है जो पंक्तियो के बीच अनलिखा-अनकहा छूट जाता है । इस तरह यह पुस्तक एक आम आदमी का आध्यात्मिक दस्तावेज है, तथापि विद्वज्जनो के लिए इसमें कही कुछ नहीं है, ऐसा कदाचित् ही कहा जा सके ।

उक्त कृति में जहाँ भी कोई दोष, खामी या कमी है; लेखक की है । गुणवत्ता या वैशिष्ट्य है तो वह उन सबका है जिनके नाम ऊपर गिनाये गये है या अनगिने रह गये है । यदि सहृदय पाठक-वर्ग ने लेखक को इन त्रुटियों की सूचना दी तो आगामी सस्करण में इन्हें दूर किया जा सकेगा और वह उनका इस कृपा के लिए आभार मानेगा ।

एक तथ्य, जिसे भूला जा रहा था, यह कि यदि इस पुस्तक के लेखन मे लेखक की पत्नी श्रीमती प्रेमलता देवी ने सहयोग न दिया होता तो इसका इस तरह और इतनी जल्दी पूरा होना असंभव ही था । उन्होने कई महावीर-चरितो को पढा है और लेखक के उपयोग के लिए उपयोगी टिप्पणियाँ तैयार की हैं। उनके प्रति आभार का तो कोई प्रश्न है ही नही, किन्तु इतना अवश्य है कि यदि वे अलग से कोई चरित्र लिखती है तो वह इसकी अपेक्षा अधिक तथ्यात्मक होगा । इस तरह 'अ' से 'अ.' तक इस पुस्तक मे लेखक का कुछ भी नहीं है, जो कुछ है तीर्थंकर-प्रभु का और मुनिश्री विद्यानन्दजी का; किन्तु यदि इसे ध्यान से पढ़ा गया और इसका सदुपयोग हुआ तो लेखक को बडा संतोष होगा और वह उसके परिश्रम को सफल मानेगा ।

—लेखक



अन्धों के बीच खड़ा हाथी अब लोकनेत्रो को उसकी समग्रता मे स्पष्ट दिखायी देने लगा था। सूड, कान, पूंछ, पांव और देह अब अलग अलग नहीं थे; सवांग अब एक देह में जुड़े एक अभिनव वास्तविकता के रूप में उपस्थित थे ।



वन्दनवार

इतिहास का मल्लाह यदि काल-पुरुष की नौका को आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व के किसी क्षण-घाट पर लंगर डालने की अनुमति दे सके, तो हम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की उस विराटता के सम्मुख होंगे जिसकी वीतरागता के सामने संसार के समस्त वैभव, जिसकी अपार करुणा के सम्मुख रक्तपिपासु क्रूरता, जिसकी लोकोत्तर समत्व-भावना के सम्मुख समस्त भेद और वैषम्य, तथा जिसकी अपरिसीम संवेदना के सम्मुख नृशंस दानवीयता हतप्रभ और हताश खड़ी है—

—तो हम वहाँ खड़े होंगे जहाँ तीर्थंकर महावीर क्रन्दन करती उत्पीड़ित मानवता को अनेकान्त का शुभाशीष और अभय दे रहे हैं,

—तो हम समय के उस ऐतिहासिक बिन्दु पर होंगे जहाँ मनुष्य का हृदय प्राणिमात्र के लिए एक अपार निष्पंक समवेदना की आँच में पिघल उठा है,

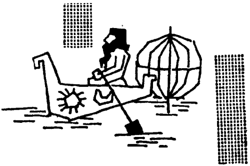
—तो हम वहाँ होंगे जहाँ जीवन के सारे भ्रम और संदेह टूट गये हैं और वासना की मृगमरीचिका ने सर्वात्म समर्पण कर दिया है,

—तो हम समय के उस नाट्यगृह में होंगे जहाँ आत्मसंगीत के सातों सुर अपनी संपूर्ण भव्यता में अनुगुंजित हैं,

—तो हम वहाँ होंगे जहाँ क्षमा के सम्मुख क्रोध, मुक्ति के सम्मुख जन्म-मरण, शान्ति के सम्मुख युद्ध, न्याय के सम्मुख अनीति, और सत्य के सम्मुख असत्य की आँखें अपराध-स्वीकृति की मुद्रा में सजल हैं,

—तो हमारे नेत्र एक अपराजिता प्रणम्य वीतरागता पर निर्निमेष लगे होंगे और हमारी चित्तवृत्तियाँ एक अशेष वन्दना में विनत होंगी,

—और तब हम देखेंगे कि जीवन के उस अपूर्व शैलीकार की वाणी का मलयागिर चन्दन हमारी जीवन-क्षतियों को स्निग्ध कर रहा है।

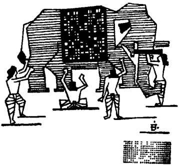




तीर्थंकर-क्रम	चौबीसवें तीर्थंकर
नाम	वर्द्धमान (सन्मति, वीर, अति-वीर, महावीर)
जन्मस्थान	कुण्डग्राम (वैशाली)
पिता	सिद्धार्थ
माता	त्रिशला (प्रियकारिणी)
वंश	नात (ज्ञातृ)
गर्भतिथि	आषाढ़ शुक्ल ६ (५९८ ई. पू.)
गर्भकाल	९ मास, ७ दिन, १२ घण्टे
जन्मतिथि	चैत्र शुक्ल १३ (५९९ ई. पू.)
नक्षत्र	उत्तरा फाल्गुनि
राशि	कन्या
महादशा	बृहस्पति

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर

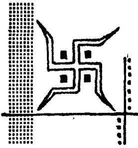
दशा	शनि
अन्तर्दशा	बुध
वर्ण	स्वर्ण
चिह्न	सिंह
गृहस्थिति	अविवाहित (प्रसंग चला किन्तु विवाह नहीं हुआ)
कुमारकाल	२८ वर्ष, ७ मास, १२ दिन
दीक्षातिथि	मगसिर सुदी १० (५६६ ई. पू.)
तपावधि	१२ वर्ष, ५ मास, १५ दिन
देशनापूर्व-मौन	६६ दिन
कैवल्य-प्राप्ति	वैशाख शुक्ल १० (५५७ ई. पू.)
देशनाकाल	२९ वर्ष, ३ मास, २४ दिन
निर्वाण-तिथि	कार्तिक कृष्ण ३० (५२७ ई. पू.) (१४ नवम्बर, मंगलवार, ५२७ ई. पू.)
निर्वाण-भूमि	पावापुर
आयु	७१ वर्ष, ४ माह, २५ दिन



यदि श्रमण-विचारधारा का निचोड
किसी एक ही शब्द मे देना हो तो
वह है 'अनेकान्तवाद' या 'स्याद्वाद' ।

पूर्वाभास

जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित कर्मसिद्धान्त कोई अन्धाधुन्ध विवेचन नहीं है, अपितु 'स्निग्ध' (पॉजीटिव्ह) और 'रूक्ष' (निगेटिव्ह) शक्तिपुंजो के बन्ध-मोक्ष की वैज्ञानिक कहानी है ।



जैनधर्म प्राचीनतम

'यह समीचीन होगा कि हम मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की संस्कृति के सिक्कों पर अंकित उन स्वस्तिक-चिह्नों पर ध्यान दें जो जैनधर्म के प्रतीकों में भी समान रूप में उपलब्ध हैं' (इट इज वर्थव्हाइल टर्निंग अटेन्शन टू द स्वस्तिक साइन्स सीन आन द सील्स ऑफ कल्चर्स ऑफ मोहन-जो-दड़ो एण्ड हड़प्पा, एण्ड व्हिच आर कॉमन इन द सिम्बल्स ऑफ जैनिज्म) रूसी समाजशास्त्री श्रीमती गुसेवा ने अपनी पुस्तक 'जैनिज्म' में इन शब्दों द्वारा जैनधर्म की प्राचीनता पर प्रकाश डाला है। विदुषी लेखिका के अनुसार जैनधर्म वेदों के निर्माण से बहुत पहिले अस्तित्व ग्रहण कर चुका था, यही कारण है कि वेदों में जैन मुनियों और तत्त्वज्ञों के उल्लेख मिलते हैं।

इसी तरह यह धारणा कि जैनधर्म बौद्धधर्म का समानान्तर कोई धर्म है या वैदिक धर्म के विरुद्ध कोई विद्रोह है, भ्रामक और निर्मूल है । पश्चिम और भारत के विद्वानों ने इधर जो खोजें की हैं उनसे अब यह बिलकुल असंदिग्ध हो गया है कि जैनधर्म विश्व का एक प्राचीन धर्म है, जिसकी एक स्वतन्त्र और मौलिक दर्शन-परम्परा है । इतिहास के मर्मज्ञों ने अब इस तथ्य को पूर्णतया स्वीकार कर लिया है कि तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर जैनधर्म के मूल सस्थापक नहीं थे वरन् उनसे पूर्व अनेक तीर्थंकर हुए जिन्होंने जैनधर्म की व्याख्या की और उसकी प्राणधारा को आगे बढ़ाया ।

जैनागम में तीर्थंकरों की यह सख्या चौबीस है, जिनमें से–तथ्य जैसे-जैसे सामने आते गये–नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इतिहास-सिद्ध माने जाने लगे । कुछ समय तक यह माना जाता रहा कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ही जैनधर्म के आदि प्रवर्तक हैं, किन्तु अब भ्रम का यह कोहरा भी हट गया है और पहिले तीर्थंकर ऋषभनाथ तक इति-हासकारों की आँख जाने लगी है । अब यह भी स्पष्ट

हो गया है कि यदुवंशियों ने योग की जिस परम्परा को अग्रसर किया है, वह तीर्थंकर ऋषभनाथ के युग से अविच्छिन्न चली आ रही है । मोहन-जो-दड़ो के खडहरों मे योगीश्वर ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा इसका जीवन्त प्रमाण है । इस तरह जैनधर्म को न तो वैदिक धर्म का बागी धर्म ही कहा जा सकता है और न ही इसकी प्राचीनता को घटाकर इसे बौद्धधर्म के साथ जन्मा कोई धर्म माना जा सकता है, बल्कि इसके दार्शनिक सिद्धान्तों और जीवनाचार को देखते हुए इसे एक पृथक्, मौलिक और स्वतन्त्र विश्वधर्म क रूप में स्वीकार किये जाने को कोई स्पष्ट चनौती नही दी जा सकती ।

इस विषय में अब दो मत नहीं हैं कि जैनधर्म वेद-पूर्व धर्म है । ठीक है कि इतिहास की पहुँच उसके मूल तक नही है, किन्तु उपलब्ध पुरातात्त्विक तथ्यों के निष्पक्ष विश्लेषण से अब यह निर्विवाद हो गया है कि जैनधर्म एक प्राचीन धर्म है; जसके वातरशना मुनियों, केशियों, व्रात्य-क्षत्रियों के रूप में ऋग्वेद, श्रीमद्भागवत आदि महत्त्व के ग्रन्थों में प्रचुर उल्लेख मिलते हैं । जैनधर्म की प्राचीनता के साथ

हीं इस बात को भी स्वीकार कर लिया गया है कि वह एक परम्परावादी धर्म न होकर पुरुषार्थमूलक और प्रगतिशील धर्म रहा है तथा राष्ट्रीय चेतना के विकास में उसकी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। विज्ञान के क्षेत्र में उसके परमाणुवाद के सूक्ष्म सिद्धान्त को कभी नही भुलाया जा सकता।

जैन इतिहास में तिरसठ शलाका पुरुषों के वर्णन आये है। इनमें से चौबीस तीर्थंकर पहले शलाका पुरुष है जिन्होंने मानव-सभ्यता को उसके उषःकाल मे ही एक क्रमबद्ध रूप देने का प्रयत्न किया। तीर्थंकरों से पूर्व चौदह कुलकरों का उल्लेख आया है। मानव-संस्कृति के बौद्धिक विकास में तो इनकी भूमिका को इतना महत्त्व नहीं दिया जा सकता किन्तु उसकी सामाजिक चेतना को आगे बढ़ाने मे उनका योग महत्त्वपूर्ण था। शलाका पुरुषों मे से प्रथम ऋषभनाथ, इक्कीसवे नमिनाथ, बाईसवें नेमिनाथ, तेईसवे पार्श्वनाथ तथा चौबीसवें वर्द्धमान महावीर इतिहास की पहुँच में है, शेष के सम्बन्ध में उतने ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नही हैं। चौदहवें कुलकर नाभिराय के पुत्र ऋषभनाथ तो

भारतीय लोकजीवन में इस गहराई से गुँथे हुए हैं कि जहाँ एक ओर उनकी अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हैं, वही दूसरी ओर उन्हें लेकर कई प्रामाणिक प्रागैतिहासक सामग्री भी मिलती है । हिन्दी के भक्त कवि महाकवि सूरदास ने भी सूरसागर मे ऋषभनाथ का उल्लेख किया है, उनका आधार भागवत है ।

तेईसवें तीर्थंकर नमिनाथ की ऐतिहासिक सत्ता अब एक असंदिग्ध तथ्य है । नमि मिथिला के राजा थे । हिन्दू-पौराणिक परम्परा मे उन्हें राजा जनक का पूर्वज कहा गया है । उत्तराध्ययन सूत्र में उनके 'अनासक्ति योग' का बड़ा भावपूर्ण और विशद वर्णन आया है । उनकी यही वृत्ति राजा जनक को विरासत में मिली, संभवतः इसी आध्यात्मिक दाय के कारण उनका सारा वंश और राज्य 'विदेह' कहलाया । यह भी एक रोचक तथ्य है कि नमिनाथ की अहिंसक जीवन-शैली के कारण ही 'प्रत्यंचारहित धनुष' क्षत्रियत्व की निशानी रह गया था । धनुष पर से प्रत्यंचा का उतारा जाना, अहिंसक जीवन-निष्ठा का सर्वोत्कृष्ट सम्मान है । यही वह शैव धनुष था जिसे युग की मांग पर आगे

चलकर महापुरुष राम ने 'प्रत्यंचा-सहित' उठाया था।

अरिष्ट नेमि तेईसवें तीर्थंकर हुए। वे कृष्ण के चचेरे भाई थे। तीर्थंकर पार्श्वनाथ वर्द्धमान महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व हुए, उन्होंने एक लोकोन्मुख धर्म-व्यवस्था का प्रवर्त्तन किया। उल्लेख मिलते है कि गौतम पार्श्वापत्यों से प्रभावित थे। गौतम बुद्ध के चाचा बाप्प शाक्य निर्ग्रन्थ श्रावक थे। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की ऐतिहासिकता की चर्चा करने का प्रयत्न दिन में दिया लेकर तथ्यों को खोजने के अलावा और कुछ नही है। इस तरह जैनधर्म की प्राचीनता के सम्बन्ध में अब विद्वानों मे कोई मतभेद नहीं है। जैनधर्म की लोकोपयोगिता और महत्ता के सम्बन्ध में जैनेतर विद्वानों में काफी पड़ताल और समीक्षण हुआ है और अब प्रायः सभी मानव-निष्ठ धर्म और संप्रदाय उसकी रचनामूलक अहिंसक दृष्टि और सहिष्णुतापूर्ण जीवन-शैली से सहमत हैं।

चन्द्रगुप्त प्रथम, सम्राट् सम्प्रति, खारवेल, गर्दभिल्ल, कुमारपाल इत्यादि के नाम कुशल और

दक्ष जैन शासकों के रूप में इतिहास के पृष्ठों पर अंकित है। ईसा की चौथी से बारहवी शताब्दी के मध्य दक्षिण भारत पर जैनधर्म का व्यापक प्रभाव एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य है। कदम्ब, गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होयसल इत्यादि राजवंश जैन थे और उनका दक्षिण पर प्रचुर प्रभाव था। इस तरह प्रागैतिहास और इतिहास की कसौटियों पर जैनधर्म की प्राचीनता और महत्ता एक निर्विवाद तथ्य है।

फिर भी चिर नवीन

जैनधर्म प्राचीनतम होते हुए भी रूढ़ और परम्परावादी नहीं है। उसकी वैचारिक ताजगी और निर्मलता आज भी उतनी ही ऊर्जा से विद्यमान है। वह एक टका भी परम्परावादी नही है। उसकी चिन्तन-पद्धति सहिष्णु, क्रान्तिनिष्ठ और प्रगतिशील है। वह युग-युगों से सत्य और सम्यक्त्व के अन्वेषण में अनथक प्रवृत्त है। वस्तुतः जैनधर्म की विशेषता इसमें नहीं है कि उसका वेदों में अनेक बार उल्लेख हुआ है या उसको लेकर मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता

और संस्कृति के खंडहर बोलते है अपितु इसमें है कि उसने धार्मिक अन्तर्विरोधों को सदैव एक रचनात्मक मोड़ दिया है और अपनी स्वस्थ चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा अहिसा के तत्त्वचिन्तन को स्थापित किया है। उसने व्यक्ति की लुप्त होती स्वाधीनता और प्रतिष्ठा की रक्षा की है और समाज को जीने की एक वैज्ञानिक कला-दृष्टि प्रदान की है। यह धारणा कि जैनधर्म ससार से रूठा हुआ आत्यन्तिकों का कोई अजनबी धर्म है, गलत है। वह संसार को इस ओर, तथा उस ओर दोनों तटों पर सुखद और आनन्दप्रद बनाने वाला धर्म है। उसका चिन्तन वैज्ञानिक है और तथ्यों का प्रतिपादन तर्कसम्मत।

यदि हम ध्यान से देखें तो पायेंगे कि जिसे हम जनतन्त्रात्मक जीवन या राजपद्धति कहते है, वह अहिसक चिन्तन का ही परिणाम है। जनतन्त्र में 'जन' को अक्षत बनाये रखने की पूरी सावधानी बरती गयी है। उसमें व्यक्ति की स्वाधीनता का पूर्ण आश्वासन है। यह अहिसक जीवन-दर्शन की ही देन है। अहिसा व्यक्ति की सत्ता और स्वाधीनता को स्वीकार करती है, हिसा उसे एक अंश में भी

नहीं मानती, वह उसे मिटाना चाहती है । हिंसा और अहिंसा में यही सबसे बड़ा वैचारिक अन्तर है । जैनियों की अहिंसा का जो प्रत्यय है, वह इतना उदात्त और प्रथम श्रेणी का है कि उसकी परिधि में न केवल मनुष्य अपितु समस्त प्राणि-वर्ग आ जाता है । यह वह उदारता है जिसे चुने हुए शब्दों में 'जियो और जीने दो' या 'सहअस्तित्व' के रूप में जाना जाता है ।

लोकसंग्रह और समता की दृष्टि ने भी जैनधर्म को सदैव सामयिक और प्रासंगिक बनाये रखा । जैनधर्म की उत्कृष्टता इसमें है कि उसने सभी युगों में सहिष्णुता, उदारता और धीरज के साथ तथ्यों का परितोलन किया है और खण्डन-मण्डन की दूषित शैली से हटकर एक वैज्ञानिक सत्यान्वेषण को अपनाया है । उसने कभी किसी धर्म की अवहेलना, असम्मान या तिरस्कार नहीं किया अपितु अनेकान्त या स्याद्वाद की उदार चिन्तन-पद्धति के माध्यम से सर्वधर्मसमभाव को साकार करने का प्रयत्न किया । स्याद्वाद वस्तुतः सचाई को खोज निकालने का आध्यात्मिक संगणक (काम्प्यूटर)

है। यही जैनधर्म का विश्वधर्मत्व है। स्मरणीय है कि अपनी प्रगतिशील संचेतना के कारण ही जैन-धर्म सदैव चिरनूतन, चिर नवीन बना रहा है।

जैनधर्म ने अन्धविश्वासों और रूढ़ियों को स्वप्न में भी स्वीकार नहीं किया। उसकी आस्तिकता अपने ढंग की अनोखी चीज़ है। वह नर में नारायण के दर्शन तो करता ही है, सभी प्राणियों में परमात्मा की स्थिति मानता है और सम्यक्त्व की प्रतिष्ठा द्वारा उस परमात्मत्व को अनावृत करने का मार्ग दिखाता है। वह नर के नारायण बनने की क्षमता में सौ फीसदी विश्वास रखता है। वह हर प्राणी को अपने भाग्य का विधाता मानता है और मानता है कि कोई भी सतत् पुरुषार्थ द्वारा परमा-त्मत्व को प्राप्त कर सकता है। परमात्मतत्त्व सहज है, वह दुष्प्राप्य है, किन्तु अप्राप्य नहीं है। जैनधर्म में भीति या भीरुता के लिए कोई गुँजाइश नहीं है। आतंक और भय का स्वाधीन चिन्तन से वैसे भी कोई वास्ता नहीं है। जैनधर्म एक खुले आकाश-तले किया जानेवाला स्वस्थ चिन्तन है, वहाँ न कोई पूर्वाग्रह है और न कोई वैचारिक दबाव; बात

समझो, देखो और जी चाहे तो अंगीकार करो। अधकचरे ढंग से और बिना किसी साधना के जैन-धर्म को समझने का प्रयास खरगोश के सिर पर सींग ढूंढ़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही कारण है कि जैनधर्म ने आज से सदियों पूर्व व्यक्ति को वैचारिक दासता से स्वतन्त्र किया था और लोकभाषाओं के माध्यम से सारे देश की स्वाधीन चेतना को जगाया था। उसने ही सबसे पहिले एक लोकाभिमुख क्रान्ति का शंखनाद किया था और मुट्ठी भर लोगों के बौद्धिक और शास्त्रीय शोषण को ललकारा था।

इधर विज्ञान के क्षेत्र में भी जैनधर्म की बहुत बड़ी देन है, जिसका तटस्थ मूल्यांकन अभी होने को है। जैनधर्म ने पुद्गल के सूक्ष्मतम निरूपण द्वारा भौतिकी और रासायनिकी को आज से हजारों साल पूर्व आश्चर्यजनक तथ्य दिये हैं। परमाणु की व्याख्या सृष्टि-रचना के गूढ़ रहस्यों को खोलने में समर्थ हुई है। जैनधर्म ने सृष्टि को किसी कुतूहल या आश्चर्य की आँख से नहीं देखा वरन् एक सच्चे विश्लेषणपरक जिज्ञासु के रूप में उसे जानने का

प्रयत्न किया। उसके द्वारा प्रतिपादित कर्म-सिद्धान्त कोई अन्धाधुन्ध विवेचन नहीं है अपितु 'स्निग्ध (पॉजीटिव्ह)' और 'रूक्ष (निगेटिव्ह)' शक्ति-पुँजों के बन्ध-मोक्ष की वैज्ञानिक कहानी है। जिन गहन तथ्यों को आज का विज्ञान बड़ी-बड़ी प्रयोग-शालाओं में खोज रहा है, जैनशास्त्रों में वही सब एक व्यापक-गंभीर गणितीय समीक्षण के रूप में सहज ही उपलब्ध हैं। ज्ञान को केवल धर्म कहकर छोड़ देना संभवतः इस शताब्दी का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है, इस तरह की दूषित दृष्टि को वैज्ञानिक तो किसी स्थिति में नहीं कहा जाएगा। यहाँ हम यह अवश्य कहेंगे कि यदि जैनागम में उपलब्ध वैज्ञानिक तथ्यों को ठीक-ठीक जानने की कोशिश की गयी तो कई नये रहस्य हाथ लग सकेंगे। यह अवश्य है कि इस सबके लिए दार्शनिक कूटों और प्राकृत-अर्द्धमागधी के ज्ञान की आवश्यकता होगी। इसी तरह जैनधर्म के द्रव्य संबंधी 'उत्पादव्यय-ध्रौव्य' वाले सिद्धान्त को ही सम्यक् और समीचीन रूप में समझ लेने पर बहुत से अन्धविश्वास ढह जाते हैं। 'गोम्मटसार' 'सर्वार्थसिद्धि', 'पंचास्ति-

काय', 'द्रव्यसंग्रह', 'तत्त्वार्थसूत्र' इत्यादि ऐसे ग्रन्थरत्न हैं, जो एक लम्बी साधना के परिणाम हैं।

इसी प्रकार जैनधर्म का भेद-विज्ञान, जिसे पृथक्कीकरण या वियुक्तीकरण की वैज्ञानिक प्रक्रिया कहा जाएगा, भी एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन-क्षेत्र है। जैन तपश्चर्या इस भेद-विज्ञान की प्रयोग-भूमि है। जैन तप कोई शरीर-ताड़न नहीं है, वह एक भेद-विज्ञानी का अपूर्व सत्यान्वेषण है। जो कष्ट एक वैज्ञानिक भौतिक तथ्यों की छानबीन में उठाता है, जैन मुनि भी वैसी ही कठोर और दुर्द्धर साधना आनुभूतिक विश्लेषण अथवा चेतन के जड़ से पृथक्करण में करता है। धर्म का शीर्षक किसी वस्तु पर लग जाने से वह महत्त्वपूर्ण नहीं रहती, ऐसा नहीं है, इसलिए केवलज्ञान जिन्हें हुआ है उनका तथ्य-समीक्षण जैन शास्त्रों में चर्चित है। जैनदर्शन स्वानुभूति का विज्ञान है और वास्तव में उसे इसी दृष्टि से देखा भी जाना चाहिये। इसी वैज्ञानिक चिन्तन और परख-विधि के कारण जैनधर्म प्राचीनतम होते हुए भी चिरनूतन, चिर नवीन है और आज भी प्रासंगिक है, कल की विसंगतियों में भी प्रासंगिक

और मौजू बना रहेगा । वह चिरन्तन जीवन-मूल्यों का धर्म है, जो न कभी रूढ़ था, न अन्धविश्वासी और न परम्परावादी । उसकी चिन्तनात्मक ताज़गी जानने की और जीवन को सुरभित करने की बहुमूल्य निधि है ।

तीर्थंकर कौन

प्रश्न उठता है, सहज ही, कि ये तीर्थंकर कौन हैं ? तीर्थंकर मोक्षमार्ग के प्रवर्त्तक युगपुरुष हैं । 'तीर्थ' साधारण भाषा में उसे कहते हैं, जहाँ किसी गहरी नदी का पानी उथला हो और उसका पाट कम चौड़ा हो ताकि उसे सरलता से पार किया जा सके । अंग्रेजी में नदी के ऐसे सुगम स्थान को 'फोर्ड' और लोकभाषा में 'घाट' कहा जाता है । तीर्थंकरों ने संसार-नदी को पार करने के लिए ऐसे ही सुगम स्थलों की खोज की और मोक्षमार्गियों को उस ओर प्रेरित किया, वह तेजस्वी डगर दिखायी । उनका काम आत्मोपकार के साथ लोकोपकार भी था । जो उन्होंने जाना उसे लोकहित की दृष्टि से सामान्य जन या प्राणिमात्र तक निष्ठा से पहुँचाया । उन्होंने

स्वयं को जीता और अन्य लोग स्वयं को कैसे जीतें, इसकी सरल-सुगम जीवन-पद्धति का व्याख्यान किया । इस तरह तीर्थंकर-परम्परा ने प्रखर धार-वाली भव-नदी के तट पर घाट तो सुस्थापित किये ही, साथ ही ज्ञान-विज्ञान और सदाचार की सुसज्जित नौकाएँ भी डाल दी । उन्होंने जीवन के सम्यक्त्व का उपदेश दिया और निर्मलता के लिए मन को कैसे जोता जाए इसका एक ज्ञान-शास्त्र दिया । उन्होंने युग-जीवन को परखा-जोखा, लोक-जीवन को गहरे मे उतर कर जाना, आत्मान्वेषण किया और तदनुरूप धर्म को समझाया ।

तीर्थंकरों ने पार्थिव जीवन को एक अपार्थिव जीवन-दर्शन दिया, आत्म-साधना का एक विशुद्ध और सुपरीक्षित रास्ता दिखाया । उन्होंने सत्य की खोज, आत्मसाक्षात्कार और एक सुलझी हुई अन्तर्दृष्टि द्वारा मनुष्य को स्वानुभूति का कीर्तित और प्रतिष्ठित मार्ग बताया । 'तीर्थंकर' कोई रूढ़ शब्द नही है, उस महिमाशाली करुणावान् अस्तित्व को आप कोई और नाम भी दे सकते हैं, वस्तुतः वह एक अनन्त-अपरिमित ऊर्जा और

आत्मबल का पर्याय शब्द है । तीर्थंकर-पद आत्म-विकास का चरमोत्कर्ष है और आत्मविद्या का सर्वोच्च शिखर ।

तीर्थंकर अर्थात् आत्मविज्ञानी, वह कृतित्व जिसने आत्मा को उसकी सपूर्णता, उसकी सकलता में उपलब्ध कर लिया है । तीर्थंकर प्रयोग-पुरुष थे, उनके जीवन खुली वैधशालाएं थी, जहाँ से हम आत्मा के सूर्य और चन्द्र-ग्रहण तथा ताप-शीत भलीभाँति देख सकते थे, देख सकते हैं । आत्म-नभ की पूरी खोज-बीन करने वाले महापुरुष थे 'तीर्थंकर ।' 'तीर्थ' शब्द एक लोक-प्रचलित शब्द है, किन्तु "तीर्थंकर" एक गहरी व्यजनावाला शब्द है । वह "सकलज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्दरसलीन" का संक्षिप्त शब्द-संस्करण है ।

तीर्थंकर कितने

जैनधर्म के प्रवर्त्तकों ने समाज-रचना पर भी गहनता से विचार किया है । इसे यहाँ कल्पना, अनुमान या अलंकार की आँख से नहीं देखा गया वरन् एक क्रमायोजित जीवन-पद्धति के रूप में

वर्णित किया गया । एक स्वाभाविक विकास-क्रम में मनुष्य की सभ्यता ने कब-कैसा उन्मेष लिया इत्यादि जटिल प्रश्नों का तर्कसम्मत उत्तर हमें जैन इतिहास में मिल जाता है । मनुष्य को पशु में से विकसित मानकर डार्विन ने एक भिन्न विकास-सिद्धान्त का प्रवर्त्तन कभी किया था, किन्तु जैनधर्म ने मनुष्य को मूल में मनुष्य मानकर ही उसके जागतिक विकास की एक सुसगत क्रमबद्ध कथा कह दी है । सब कुछ इतना सहज-स्वाभाविक है कि बुद्धि को अलग से किसी बहस मे उतरने की जरूरत नहीं पड़ती सब धूप की तरह उजला और कंचन नीर की तरह निर्मल है ।

जैन पुराणों में चौदह कुलकरों का वर्णन आया है । इन्हें मानव-सभ्यता का सूत्रधार माना जाता है । इस परम्परा में नाभिराय चौदहवे कुलकर थे । प्रथम शलाका पुरुष तीर्थंकर ऋषभनाथ इन्हीं के पुत्र थे । कुलकरों के संबंध मे कहा जाता है कि इन्होंने मनुष्य को प्रकृति से समरस किया और उसकी कोणात्मकता को स्निग्ध किया । आरम्भ में मनुष्य प्रकृति के रहस्यों से अपरिचित था, कुलकरों

ने प्रकृति की गढ़ता को उघाड़ा और मनुष्य को जीने की कला का व्यवस्थित ज्ञान दिया । समाज का ढांचा बुना तथा विवेक और विचार का ककहरा सिखाया । इन्हीं के कारण मनुष्य बर्बरता के स्तर से ऊपर की ओर आया और शनैःशनैः प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ा । कृषि और औद्योगिक सभ्यता की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करने का श्रेय कुलकर-परम्परा को ही है । इन्ही कुलकरों को ग्राम और नगर-संस्कृति का जनक माना जाता है ।

चौदहवें कुलकर नाभिराय ने मनुष्य को कर्म और पुरुषार्थ के धरातल पर ला खड़ा किया । कुलकरों ने मनुष्य को बताया कि खूँख्वार पशुओं से कैसे बचना चाहिये, कौन-से पशु पालतू बनाने योग्य हैं, उनसे उत्पादन-कार्य किस तरह लिया जा सकता है, भूमि और वृक्षों के स्वामित्व की मर्यादाएँ क्या होनी चाहिये; समाज, कृषि, खेत, खलिहान, मंडी, हाट, बाजार, कला, विज्ञान इत्यादि विविध क्षेत्रों में मनुष्य की मेधा को उतारने का काम इन्हीं कुलकरों ने किया । उन्होंने नदी पर घाट बांधना, नावें डालना, पहाड़ चढ़ना, सड़कें बनाना,

मकान बनाना, वर्षा से बचाव करना, कुएँ खोदना इत्यादि बहुतेरे कार्य सिखाये । शासनतन्त्र की शिक्षा भी दी । यह सब इतने सिलसिलेवार दिया गया है कि समाज-शास्त्र का अन्न-संग्राहक (फुड-गेदरर) इत्यादि उपहासास्पद दिखायी देने लगता है । इस तरह मनुष्य को मनुष्य मानकर जीवन और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कुलकरों द्वारा जो व्यवस्थाएँ बनायी गयीं उन्हें ऐतिहासिक महत्त्व का माना जाएगा । संक्षेप में कुलकर-परम्परा तीर्थंकर-परम्परा के संदर्भ में संसार की परम्परा थी । एक बन्ध, एक मोक्ष; एक प्रवृत्ति, एक निवृत्ति । कुलकरों ने कुल अर्थात् परिवार और समाज की रचना के आधार बनाये और तीर्थंकरों ने ज्ञान को उस शिखर तक पहुँचाया जहाँ वह 'केवलज्ञान' बनकर मोक्ष रूप हो गया । कुलकरों ने श्रम को गौरवान्वित किया और तीर्थंकरों ने श्रामण्य को ।

इन कुलकरों के उपरान्त आये तिरसठ शलाका पुरुष, ये थे–२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ बलभद्र, ९ नारायण और ९ प्रतिनारायण । तीर्थंकरों में सर्वप्रथम हुए ऋषभनाथ जिन्होंने आत्मविद्या का नेतृत्व किया ।



ऋषभनाथ शलाका–१

प्रथम शलाका पुम्ष तीथकर ऋषभनाथ काल क एक एस सुदूर छोर पर ह जहा मनुष्यता का सूय क्षितिज पर उठ रहा है। व कब हुए इतिहास की भाषा म इस जानना असभव है किन्तु इतना अवश्य है कि उनका उल्लख जैन पुराणो क अतिरिक्त अन्यत्र अनक ग्रन्थो म बड गौरव क साथ हुआ है । ऋग्वद श्रीमदभागवत इत्यादि म ऋषभनाथ क विशद वणन आय ह । व सवपूज्य और सवसम्मत हैं उनको लकर कोई बहस नही है । व योगश्वर है प्रागाय ह वद-पूव ह । वदो म है वदातीत हैं । मोहन-जो-दडो क अवशषो म उनको लकर स्पष्ट प्रमाण मिल ह । अब यह बिलकुल सिद्ध हो गया है कि ऋषभनाथ योग म निष्णात थ और उन्होन योग की परम्पराओ का निर्धारण किया था । इतिहास न अब इस बात को भी स्वीकार कर लिया है कि

क्षत्रियों ने ब्राह्मणों को योग की परम्परा सौंपी। वेद-पूर्व क्षत्रिय, वर्ण-विभाजन से भिन्न हैं। वे वर्ण-पूर्व हैं, वर्णोपरान्त क्षत्रियों से भिन्न। देश-विदेश के इतिहास और पुरातत्त्व के विशेषज्ञों ने इन तथ्यों को न केवल मान लिया है वरन् बड़े निर्भ्रान्ति भाव से यथास्थान इनका उल्लेख भी किया है। यह कोई गर्वोक्ति नही है अपितु एक ऐतिहासिक तथ्य है। वातरशना, केशी इत्यादि मुनियों के वर्णन इतने प्राचीन हैं कि श्रामण्य चिन्तन को स्वयमेव एक स्वतन्त्र और मौलिक मान्यता मिल गयी है। श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियों मे चिन्तन और मान्यताओं का स्पष्ट अन्तर है। भारत एक ऐसा प्यारा देश है जहाँ दो विरोधी विचार-वीथियाँ सहअस्तित्व में सुखद-निरापद साँस लेने में समर्थ रही हे। जैनों का 'अनेकान्त' सहअस्तित्व और समरसता का ही एक अन्य नाम है। यदि श्रमण-विचारधारा का निचोड़ किसी एक ही शब्द मे देना हो तो वह है 'अनेकान्त-वाद' या 'स्याद्वाद'।

ऋषभनाथ ने जैनधर्म का प्रवर्त्तन किया। वैसे जैनधर्म उतना ही प्राचीन है जितने छह् द्रव्य।

द्रव्य अनादि हैं, अनन्त हैं । जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल अजन्मे हैं, अजर हैं, अमर हैं, जैनधर्म अणु-अणु में समाया हुआ धर्म है, अतः उसका कोई आरभिक छोर पाना असभव ही है ।

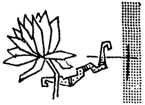
जैनधर्म का भेद-विज्ञान जीव-अजीव, जड़-चेतन के पृथक्करण की आत्मविद्या का अमर विज्ञान है, इसके अनुसार प्रत्येक प्राणि-देह एक प्रयोगशाला है और प्रत्येक प्राणी एक संभाव्य आत्म-विज्ञानी । उसके पास प्रयोग के समस्त उपकरण उसके चिन्तन मे ही सुलभ है । पृथक्करण का मार्ग सम्यक्त्व के बोध का मार्ग है । कहने का आशय यह है कि तीर्थंकर ऋषभ ने आध्यात्मिक चिन्तन के खजाने को सार्व-जनिक रूप में उपलब्ध किया । वे आत्मसाक्षात्कार की कला के सर्वप्रथम मर्मज्ञ थे । वे चौदहवें कुलकर नाभिराय के पुत्र थे । भरत को राज्य सौंपकर, वे वातरशना मुनियो की कोटि मे चले आये । उन्होंने दिशाओं को ओढ लिया और शरीर को भी वस्त्र से अधिक कभी नही माना । वे अहिंसा और अपरि-ग्रह-वृत्ति के जीवन्त तीर्थ की भाँति दिगदिगन्त में भ्रमण करते रहे । वे इक्ष्वाकु थे । उन्होंने आरम्भ में

ही, जब राज्यारूढ़ थे, प्रजा को कृषि और कृष्टि दोनों की ही समुचित शिक्षा दी थी। उन्होंने मनुष्यों को न केवल जीना सिखाया वरन् एक-दूसरे पर अपने विचार व्यक्त करने की कला भी उन्हें दी। उन्होंने भाषा दी, लिपि दी, उपयोगी और ललित कलाएँ दीं। ब्राह्मी लिपि ऋषभ की देन है, संगीत के वे जनक हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत के नाम पर सारा देश 'भारत' कहलाया। मनुष्य को मनुष्य बनाने, उसे भोग से पुरुषार्थ और कर्म की ओर लाने का श्रेय प्रथम शलाका पुरुष ऋषभनाथ को ही है, यही कारण है कि उन्हे 'आदिनाथ' कहा जाता है। जैन तीर्थकरों मे ऋषभ सर्वप्रथम और वर्द्धमान महावीर अन्तिम तीर्थंकर हे।

ऋषभनाथ के बाद २३ तीर्थंकर और हुए जिन्होंने ऋषभ-प्रणीत धर्मचक्र को गति दी, ये उसे सामयिक और युगानुरूप बनाये रहने का दायित्व निभाते रहे। जैनधर्म की तीर्थंकर-परम्परा ने धर्म को सदैव प्रासंगिक अर्थ दिया और उसे लोकोन्मुख बनाये रखा। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर ने जैनधर्म का अधुनातन संस्करण प्रस्तुत किया। वस्तुतः

जैनधर्म के मूल सिद्धान्त अपरिवर्तनीय हैं, वे इतने सुविचारित, तर्कसम्मत और वैज्ञानिक है कि उनमें रद्दोबदल का कोई प्रश्न ही नही है, केवल व्याख्या का स्वर बदल दिया गया । तीर्थंकर महावीर ने जैनधर्म को एक लोकोपयोगी मुद्रा में सामने रखा ।

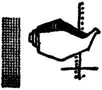
इतिहास के नेत्र है शिलालेख, ग्रन्थ इत्यादि, इनसे आगे पुरातत्त्व, भूगर्भ-विज्ञान और सबसे अन्त मे मनुष्य का अनुमान-ज्ञान । इस दृष्टि से हमें नमि से लेकर वर्द्धमान तक के तीर्थंकरों के संबध में ऐतिहासिक सामग्री प्राप्त है तथा अवशिष्ट तीर्थंकरों को लेकर इतिहास स्वभावतः मौन है ।



नमिनाथ : अनासक्ति

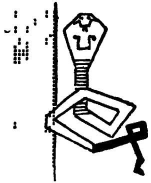
नमिनाथ इक्कीसवे शलाका पुरुष हैं । वे अनासक्ति-योग के प्रतीक हैं । हिन्दू-पुराणकारों

ने नमि को मिथिला का राजा कहा है। राजा जनक इन्हीं के वंशधर थे। उनकी अनासक्त वृत्ति विख्यात थी। इसी कारण उनका वंश और राज्य 'विदेह' कहलाता था। अहिंसा के प्रत्यय का नमि के युग में इतना व्यापक प्रसार और समुचित परिष्कार हो गया था कि उनके वंश-के-वंश ने धनुष पर से प्रत्यंचा उतार ली थी। जहाँ एक ओर यह मानव-सभ्यता के विकास का एक प्रौढ़ चरण था, वहीं दूसरी ओर अहिंसक जीवनशैली पर बढ़ती हुई लोकनिष्ठा का द्योतक था। कहा जाता है यह शिवजी का धनुष था, शिव को परम योगी कहा जाता है। वे भी वेदेतर देवता माने गये हैं। ऋषभ को भी शिव कहा गया है। राम ने शिव-गाण्डीव को फिर प्रत्यंचायुक्त किया, यह एक विख्यात कहानी है। इस अलंकार के तल में अहिंसा की एक समग्र समीक्षा सांस ले रही है। सीता-स्वयंवर का धनुष, यही धनुष है। अहिंसा ने जब भी आवश्यक हुआ है, मनुष्य के शौर्य और पुरुषार्थ को जगाया और ललकारा है, संभवतः राम के युग में यही हुआ। नमिनाथ सुदीर्घ ईस्वीपूर्व में हुए माने जाते हैं।



नेमिनाथ : करुणा

नेमिनाथ बाइसवें शलाका पुरुष हुए । वह महाभारत का युग था । ईस्वी पूर्व कुछेक सहस्र वर्ष । नेमिनाथ यदुवंशी थे । उनके पिता अंधकबृष्णी के ज्येष्ठ पुत्र समुद्र विजय थे; कृष्ण, वसुदेव से उत्पन्न उनके चचेरे भाई थे । नेमिनाथ का विवाह-सम्बन्ध गिरिनगर (गिरनार) के राजा उग्रसेन की विदुषी कन्या राजुलमती से होना निश्चित हुआ था, किन्तु जैसे ही बारात गिरिनगर पहुँची नेमिनाथ का ध्यान अतिथियों के भोजन के निमित्त घेरे गये सैकड़ों पशुओं की करुणार्द्र चीत्कार पर गया । उन्होंने संसार का परित्याग कर दिया और विवाह-मण्डप में जाने की अपेक्षा वे तपोवन में चले गये । बाईसवें तीर्थंकर के रूप में उन्होंने अहिंसा और करुणामूलक जीवन-दृष्टि को एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में प्रचारित किया ।



पाश्वनाथ क्षमा

तईसव शलाका पुरुष तीथकर पाश्वनाथ क्षमा और निवर वत्ति क सर्वोत्तम प्रतीक ह उनका जम वाराणसी क राजा अश्वसन और रानी वामादवी स हुआ । तीस वष की अवस्था म ही व घरबार छोडकर सम्मदशिखर पर कठोर तपश्चर्या म लग गय । कमठ का प्रसग पाश्वनाथ की साधना क निखार और परिष्कार का प्रसग है । उनक पूव जमो की कथाओ म क्षमा और वर क घात प्रतिघातो का बडा मार्मिक वणन हआ है । कमठ वैर है और पाश्व क्षमा रूप । क्षमा अर्थात अक्रोध विश्व क सभी धर्मों का सार है । पाश्व इसी क्षमा या निर्वैर जीवन-दशन क प्रतिपादक ह ।

सम्मेदशिखर पर्वत तीर्थंकर पार्श्वनाथ की निर्वाण-भूमि है। आज भी यह 'पार्श्वनाथ हिल' के नाम से प्रसिद्ध है। जैन पुराणों के अनुसार पार्श्वनाथ का निर्वाण-काल ईस्वी पूर्व ७७७ ठहरता है। पार्श्वनाथ की जैनधर्म के तत्युगीन रूप पर गहरी छाप है, वे ऋषभनाथ से नेमिनाथ तक चली आती धर्म-परम्परा के समवेत संस्करण हैं। उनमे तीर्थंकर ऋषभ का आकिंचन्य और अपरिग्रह, नमिनाथ की निरीह और अनासक्त वृत्ति, नेमिनाथ की करुणाप्रधान अहिंसावृत्ति सामयिक धर्मचक्र के रूप मे व्यवस्थित हुई है। पार्श्वनाथ-युग मे अहिंसा को एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता असंदिग्ध और निर्विवाद है। उनके समय में निर्ग्रन्थों की धर्म व्यवस्था लागू थी; संभवत: स्वस्तिक तत्कालीन जीवन-स्वस्ति का प्रतीक है। यथार्थ में स्वस्तिक की चार भुजाएँ चार गतियों की द्योतक हैं। माना जाता है कि बायी ओर की भुजा और कोना मनुष्य, ऊर्ध्वमध्य देव, दायी भुजा और कोण

तिर्यंच तथा अधोमध्य नर्क गति के प्रतीक हैं। व्यवहार में स्वस्तिक याने सांथिया कल्याण, आत्मानुशासन, निर्विघ्नता और समृद्धि का सूचक चिह्न है।

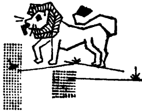
तीर्थंकर महावीर की व्रत-सम्बन्धी प्रगतिशील क्रान्ति ने जैनधर्म को युग के अधिक अनुरूप ढाल दिया। वास्तव में तीर्थंकर-परम्परा सत्यान्वेषण की एक वैज्ञानिक परम्परा है। जिस तरह सत्य की खोज में एक वैज्ञानिक दूसरे वैज्ञानिक के हाथ में अपनी शोध और साधना का संपूर्ण सूत्र निःसकोच सौंप देता है, वैसी ही स्थिति ऋषभ से महावीर तक घटित हुई है। वैचारिक छानबीन की यह प्रबुद्ध परम्परा जैनियों की अत्यन्त संतुलित और महत्त्व की परम्परा है। इसके द्वारा जैनसिद्धान्त मूल में ध्रुव रहकर भी सामयिक बना रहा, कभी पुराना नहीं हुआ। उसने सभी युग-संदर्भों में अपनी प्राणवत्ता, मांगलिकता, उपयोगिता और जीवन्तता को सुरक्षित रखा। क्या भाषा, क्या शैली और क्या शिल्प; वह इन सभी दृष्टियों से युगानुरूप और गतिशील बना रहा। न कहीं थका, न कहीं रुका। जहाँ तक जैन-सिद्धान्त के प्रवर्त्तन का सम्बन्ध है, युग उसे

झेलता रहा। तथ्य यथारूप बने रहे, प्रस्तुति बदलती गयी; द्रव्यत्व बना रहा, पर्यायान्तर हुआ। निश्चय और व्यवहार के इस मणि-कांचन योग ने जैनधर्म को कभी रूढ़ नही होने दिया वरन् इसके विपरीत वह लोकहृदय पर एक वैज्ञानिक, सहिष्णु, स्वस्थ चिन्तन के रूप में छाया रहा। जैन तीर्थकरों की महत्ता इस तथ्य मे भी है कि उन्होंने लोकशक्ति को जब-जिस वैचारिक खुराक की आवश्यकता हुई, दी। स्पष्टत: जैनधर्म एक करुणामूलक धर्म है, वह क्रान्ति मे आस्था रखनेवाला एक वैज्ञानिक धर्म है। उसका न कोई दुराग्रह है, न आक्षेप, वह एक विशुद्ध, पूर्वाग्रह-रहित चिन्तन है। महाकवि सूरदास की ये पक्तियां उसकी अनेकान्त चिन्तन-पद्धति पर अच्छी चरितार्थ होती हैं :

"जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे को सबकछु दरसाई।
बहिरो सुनै, मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।।

सचमुच यदि किसी पर सूर के प्रभु की भाँति अनेकान्तवाद का अनुग्रह हो जाए तो उसकी वैचारिक

पंगुता, अज्ञान का अन्धत्व, सद्गुणों के निमित्त बहरापन, सत्कथन या सत्य कथन की मूकता और पुरुषार्थ के अभाव में उत्पन्न दीनता समाप्त हो सकती है। जैनधर्म पुरुषार्थ और श्रममूलक धर्म-परम्परा है। वहाँ अप्रमत्त साधना को ही सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।



वर्द्धमान महावीर : प्रगतिशीलता

वर्द्धमान महावीर चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर हुए। जैन पुराणों से पता चलता है कि उनके माता-पिता, रानी त्रिशला और राजा सिद्धार्थ, पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। वर्द्धमान महावीर के पिता सिद्धार्थ कुण्डग्राम के शासक थे और माता लिच्छवि कुल के राजा चेटक की विदुषी पुत्री थीं। उनके पितृ-मातृ दोनों ही कुल, लोकतन्त्र के विश्वासी

थे । महावीर ज्ञातृ (नात) गोत्रज थे, इसीलिए बौद्ध ग्रन्थों में उन्हें 'नातपुत्त' कहा गया है । उनके कौमार्य के ३० वर्ष विदेह में व्यतीत हुए, वे वेशालिक थे । बारह वर्ष के दुर्द्धर्ष तप के अनन्तर उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ और तब वे सपूर्ण भारत में विहार करते हुए उपदश देते रहे । ७२ वर्ष की अवस्था में पावापुरी मे उनका महानिर्वाण हुआ ।

तीर्थकर महावीर की संघ-व्यवस्था बड़ी सहज थी । उनके अनुयायी चार शाखाओं में विभक्त थे–मुनि, आर्यिका; श्रावक, श्राविका । महाव्रती पुरुष, महाव्रती नारियाँ; अणुव्रती पुरुष, अणुव्रती नारियाँ । मुनि और गृहस्थ जीवन की अलग-अलग मर्यादाएँ बंधी हुई थी । धर्म का संपूर्ण प्रासाद अहिसा और भेद-विज्ञान की नींव पर खडा हुआ था । अहिंसक आचरण के द्वारा निर्मल आत्मा की उपलब्धि जैनदर्शन और धर्म का बुनियादी लक्ष्य था । पाँच व्रत इस प्रकार थे:–अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, अमैथुन, अपरिग्रह । मुनिवर्ग इन्हें समग्र रूप में और श्रावक-वर्ग अंश रूप में पालन करता था ।

वर्द्धमान महावीर की देशना का सार इस प्रकार रख जा सकता है । जीव और अजीव सृष्टि के मौलिक तत्त्व हैं । जीव (चेतन) मन, वचन और कर्म की रासायनिक प्रक्रिया में अजीव (पुद्‌गल) से जकड़ जाता है, यह कर्मबन्ध है । तप या साधना के द्वारा कर्म की इस आवक (आस्रव) को रोका जा सकता है, इस तरह न केवल वह रुकता है अपितु उसका क्षय भी होता है । यों, पुद्‌गल से वियुक्त जीव मुक्तावस्था को प्राप्त करता है । यही मोक्ष है । अनेकान्त के माध्यम से दृष्टि मंजती है, सही होती है और इस तरह की सम्यकदृष्टि से सप्त तत्त्वों को ठीक-ठीक समझना सम्भव होता है । समता, करुणा और क्षमा की भावना के निरन्तर विकास द्वारा उन्होंने व्यवहार-मार्ग को स्पष्ट किया ।

अंकुर बना अक्षय वट

स्वस्थ विचार का अकुर जीवन की उर्वर धरती पर जमता चला गया । ऋषभनाथ का धर्म-बीज़ अँकुराया और वर्द्धमान महावीर तक आते-आते

उसने एक विशाल वट का रूप ग्रहण कर लिया। धर्म के सम्बन्ध में जो एक विकृत और भ्रान्तिपूर्ण धारणा लोक-हृदय में थी, उसके स्थान पर एक स्पष्ट, गहरी, निर्भ्रान्ति और वैज्ञानिक विचारधारा स्थापित होने लगी। धर्म और विज्ञान अब दो विरोधी क्षेत्र नहीं रहे, बल्कि जैनधर्म ने भौतिकी विज्ञान के क्षेत्र मे आत्म-विज्ञान का एक और गहन क्षितिज खोल दिया। धर्म ने इस सूक्ष्म आत्म-विद्या को कई सफल प्रयोगों से पुष्ट किया। धर्म अब निपट आडम्बर, ढकोसला, अन्धविश्वास, रहस्य, रूढ़ि या अहित का पर्याय शब्द नही रहा अपितु उसका एक लोकमंगलप्रद, स्वस्थ और प्रांजल स्वरूप सामने आया।

जो धर्म अब तक 'अज' याने ब्रह्म या छागल की पूर्वाग्रहपूर्ण जड़ बहस में उलझा हुआ था, वही आत्मोदय के माध्यम से सर्वभूतहित आगे आया। संस्कृत भाषा की दुर्बोधता अब समाप्त हुई, प्राकृत अथवा अर्द्धमागधी भाषाओं के माध्यम से जीवन और जगत् की सरल-सुगम व्याख्याएँ की जाने लगीं। अब धर्म के क्षेत्र में कोई दुर्ग नहीं रहा, झोपड़ी

से महल तक समत्व की एक अटूट भावना विकसित हुई। जैन मुनि कुटिया से प्रासाद तक आहार के लिए जाते थे, उनके मन में मनुष्य के कृत्रिम भेदों के लिए कोई आग्रह नहीं था। इस तरह धर्म का रूप सरल हो गया, उसमें कोई तात्त्विक दुराव नही रहा, सब कुछ करुणा और पुरुषार्थ की क्रान्तिनिष्ठ भूमिका पर निश्छलता के साथ रख दिया गया। आत्म-स्वाधीनता और शुद्धि की यह क्रान्ति इतनी अभिनव भी कि इसकी प्रखरता से कोई बच नही सका। फैले हुए विष का बचाव करना असंभव हो गया। व्यक्ति की कुण्ठा समाप्त हो गयी, उसकी वैयक्तिकता को वैकुण्ठ मिला, एक ऐसा रचनात्मक वातावरण जहाँ आत्म-विकास के लिए कोई व्यवधान नही था। सब कुछ स्वयं करना था, न कोई पंडित, न पुरोहित, न दलाल। जो करो, स्वयं करो। व्यक्ति की इस स्वाधीनता ने धार्मिकों को निर्भीक और आत्म-निर्भर बना दिया। जैनधर्म ने एक स्वस्थ लोकमंच के रूप में विचार के सारे द्वार और खिड़कियाँ खोल दीं। वह एक ऐसा सभागृह बन गया जहाँ कोई भी बिना किसी पूर्वाग्रह के उपस्थित हो

सकता था । तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के समवशरण में इन्द्रभूति गौतम का पहुँचना इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है ।

सच्ची रुचि, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण जहाँ भी होता है, सफलता मिलती है । इसे रत्नत्रय कहते है । जिसकी मुट्ठी मे ये तीन हे, उसे भला संसार की और कौन-सी सपदा चाहिये ? श्रावक हो या मुनि उसके आचार को इस रत्नकरण्ड की जरूरत होती है । इसी तरह क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य ने आत्मविकास की संभावनाओं को उभार दिया । अनेकान्त ने मन को निर्मल और निर्भ्रम बनाया और गूढ़ आत्मतत्त्व की गहराइयों में सुगम अवगाहन दिया । इस तरह तीर्थंकर ऋषभनाथ का धर्मांकुर एक विशाल वट वृक्ष बन गया ।

मंगल प्रभात

'यज्ञ की हिंसा हिंसा नही होती', 'पशु यज्ञ-कुण्ड के लिए बनाये गये हैं' जैसे निरर्थक और

स्वार्थपूर्ण नारे अब ठण्डे और बेमानी हो गये। खून-खराबे की अपेक्षा लोगों का ध्यान अब खून को निर्विकार बनाने की ओर गया। आदमी का खून ही बदला जाने लगा। लोकशक्ति को भ्रमजाल से निकालकर सम्यक्त्व और वास्तविकता के निर्मल वातावरण में लाया गया। नेमिनाथ की करुणा-मूलक अहिंसा को तीर्थंकर महावीर ने दिग्दिगन्त तक प्रचारित किया। अहिंसा-सिद्धान्त अब पूरी ऊर्जा से व्यवहार के क्षेत्र में उतरा।

इधर महावीर के युग में हिंसा केवल रक्तपात ही तक सीमित नहीं रह गयी थी वरन् उसने मानवाधिकारों के हनन का नृशंस कार्य भी शुरू कर दिया था। हिंसा ने एक सूक्ष्म और प्रहारक शक्ल ले ली थी। कोई भी व्यक्ति उन्मुक्त और अनाग्रहपूर्ण चिन्तन के लिए निर्बन्ध नहीं था, उसके विचार किसी-न-किसी वैचारिक खूँटे से बंधे हुए थे।

अनेकान्त-दृष्टि मानवाधिकारों के प्रति तत्युगीन प्रजा की आँख खोलने की सबसे सरल और अमोघ उपाय बनी। एक तरह से वह एक सक्षम

संवेदनशील खुर्दबीन की तरह लोकशक्ति के हाथों में सौंप दी गयी, जिसमें से लोगों को उनके साथ होनेवाला छल साफ-साफ दिखायी दिया । पाँच अन्धों के बीच खड़ा हाथी अब लोकनेत्रों को उसकी समग्रता में स्पष्ट दिखायी देने लगा था । सूँड, कान, पूँछ, पाँव और देह अब अलग-अलग नहीं थे; सर्वांग अब एक देह में जुड़े एक अभिनव वास्तविकता के रूप में उपस्थित थे । सोचने की इस अभिनव प्रणाली ने लोगों की आँखें आंज दीं, उसमें अब सबकुछ युक्तियुक्त खोजने की भूख जगी । जैनधर्म ने कहा कि एक धर्मात्मा का काम है कि वह तथ्य को युक्ति और तर्क के साथ रख दे, उसका कर्त्तव्य किसी बात को पूरी निश्छलता और ईमानदारी के साथ पेश करने का है, कौन उसे मान रहा है और कौन नहीं; यह काम उसके देखने का नहीं है । सूरज को धूप देनी है, उसे यह कब देखना है कि धूप का लोगों ने क्या किया ? यह क्रान्ति थी विचार की, बुद्धि की, जीवन की, चिन्तन की । यह मनुष्य की सृजन ढूंढ़ती चेतना का मगल प्रभात था । इससे मानवाधिकारों के हनन और शोषण की अमावस्या समाप्त

हुई और एक ऐसा सुप्रभात हुआ जिसने लोकहृदय के कमल को उत्फुल्ल कर दिया ।

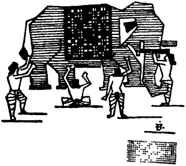
अमंगल की इस करारी हार ने यज्ञकुण्डों के मुँह बन्द कर दिये और हमारी पशु तथा वन्य सपदा को सुरक्षित कर दिया । समृद्धि बढ़ी और धरती अधिक उपजाऊ बनी । मानवता के ललाट पर अक्षत-कुंकुम का विजय-तिलक मुस्कराने लगा । केवल मनुष्य की ही नहीं प्राणिमात्र की गरिमा बढ़ी । हिंसा का शास्त्र विर्सजित हुआ, अहिंसा के विज्ञान का सूर्य पूर्व दिशा के भाल पर एक सौभाग्य-चिह्न की तरह उदित हुआ । धर्म का एकाधिकार समाप्त हुआ । लोकजीवन में सदाचार, सद्विचार, निष्कपटता और निष्पापता को अपनी जगह मिली; क्रूरता का स्थान करुणा, वैर का स्थान क्षमा और प्रतिकार का स्थान भाईचारे की भावना ने ग्रहण कर लिया । इस निर्मल स्थानान्तर ने लोकमन और लोकमानव का कायाकल्प कर दिया । अमंगल हार गया, निर्मलता चारों ओर छा गयी ।

एक शक्ति का उदय

वर्द्धमान महावीर का उदय लोकशक्ति का उदय था। शक्ति की यह ऊर्जा व्यक्ति से लेकर समाज के हर छोटे-बड़े अवयव तक पहुँच गयी थी। निराशा के बादल हट गये थे और लोग एक नयी शक्ति और स्फूर्ति का अनुभव कर रहे थे। धर्म के क्षेत्र में तर्कसंगत और वैज्ञानिक चिन्तन की प्रतिष्ठा हुई, स्नेह, परस्पर विश्वास और सहयोग की भावना को स्थान मिला। राजतन्त्र अधिक मानवीय बने, प्रजा ने एक-दूसरे पर विश्वास द्वारा सह-अस्तित्व की वास्तविकता और उपयोगिता को समझना आरम्भ कर दिया। अन्तर्विरोधों के बीच भी निर्बाध, निरापद और शान्ति से जीने की कला लोगों को आने लगी। महावीर इसी कला के संस्थापक पुरुष हैं। उन्होंने प्राणिमात्र को आखिरी सांस तक स्वाधीन बने रहने की, बोलने की, काम करने की, जीने की और सोचने की स्वाधीनता का सही मार्ग बताया। इससे केवल मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र को आत्मोदय की प्रेरणा और उमंग हुई।

व्यर्थता का क्षय

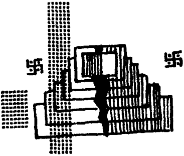
आध्यात्मिक लोकतन्त्र की स्थापना ने लोक-जीवन में से व्यर्थता, एकांगिता और द्वेष के जहर को निकाल फेंका । चारों ओर एक चमकीली सार्थकता अंगड़ाई भरने लगी । हिंसा, असत्य, शोषण, संचय और कुशील का क्षय हुआ; अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ने जीवन को संयत, सुखी, समृद्ध और सुरक्षित बनाया । इस तरह शील, सौष्ठव और शक्ति के अनुशासन ने सार्थकता को और अधिक सुसंगत रूप दिया । वर्द्धमान महावीर का जीवन स्वयं संदेश बना, उन्होंने जो कुछ कहा, उसे पहिले जीवन में फलित देखा और जो कुछ किया उसे तपश्चर्या और स्वाचरण की दिव्यध्वनि में कहा । सम्यक् चारित्र ही दिव्यध्वनि है, इस भाषा को न केवल मनुष्य अपितु पशुपक्षी भी समझते हैं, इसीलिए तो उस दिन वह सिंह वर्द्धमान महावीर के चरणों में आकर शान्तचित्त बैठ गया था ।



सचमुच यदि किसी पर 'अनेकान्तवाद' का अनुग्रह हो जाए तो उसकी वैचारिक पगुता, अज्ञान का अन्धत्व, सद्‌गुणो के निमित्त बहरापन, सत्यकथन की मूकता और पुरुषार्थ के अभाव मे उत्पन्न दीनता समाप्त हो सकती है ।

ধীবর

सच्ची रुचि, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचरण जहाँ भी होता है, सफलता मिलती है। इसे रत्नत्रय कहते हैं। जिसकी मुट्ठी में ये तीन हैं, उसे भला संसार की और कौन-सी संपदा चाहिये ?



काला इतिहास : उजला पृष्ठ

आज से छब्बीस सौ वर्ष पूर्व के भारत की स्थिति बड़ी विषम थी। चारों ओर हिंसा, असत्य, शोषण और अनाचार का प्रभुत्व था। धर्म के नाम पर मनुष्य उसकी विकृतियों का दास बना हुआ था। मानवाधिकार बड़े नाजुक दौर में थे, उनका दिन-दहाड़े हनन होता था। व्यक्ति की सत्ता लगभग मिट चुकी थी, उसकी स्वाधीनता का कोई प्रश्न शेष न था। सब ओर अराजकता छायी हुई थी।

मनुष्यता कराह रही थी, उसकी गरिमा खण्डित हो चुकी थी। धर्म राजनीति का एक सड़ा-गला हथियार मात्र रह गया था। लोग उसका भय

से पालन करते थे, श्रद्धा और आस्था उनके हृदय में नहीं थी। स्वार्थलोलुप धर्मगुरु स्वयं को धर्म के ठेकेदार समझते थे। स्थिति दयनीय थी। मनुष्य संतप्त था। उसकी चेतना को लकवा मार गया था। दासता पनप रही थी। स्त्री की सामाजिक स्थिति भयावह थी। उसका अपहरण होता था। कोई उसे तलघर में डालता था, कोई बेड़ियों में जकड़ता था, कोई उसके केश मुँडा देता था, याने मनुष्य-मनुष्य नही रहा था, उसकी निर्मलता घायल थी, उसका कोई रखवाला नही था। इस समय उसके दर्द की भाषा समझनेवाले किसी युगपुरुष की आवश्यकता थी, जो पूछे तुम्हें कौन-सी व्यथा है, तुम्हें कौन-सा दु:ख है, आओ मैं तुम्हें ले चलता हूँ अन्धकार से प्रकाश की ओर। लोग इस महाशक्ति की प्रतीक्षा में थे।

आज से छब्बीस सौ वर्ष पूर्व का इतिहास एक भीषण रक्तपात का इतिहास है, निरीह पशुओं के निर्मम वध का इतिहास है। अग्निकुण्डों में चीत्कारों का नंगा इतिहास है। बर्बरता और जंगलीपन का इतिहास है, स्वार्थों के नग्न ताण्डव का इतिहास है।

मनुष्य के मनुष्य द्वारा होनेवाले निर्लज्ज शोषण का काला इतिहास है । प्राणिमात्र पर होनेवाले अत्याचारों की व्यथापूर्ण अपावन कथा है । तीर्थंकर पार्श्वनाथ के बाद की धुँधली अभिशप्त धर्मरेखा के तड़पकर विलीन होने की सूचना का अशुभ संकेत है ।

धर्म की स्थिति भ्रान्त थी । सबका मन भटका हुआ था । कोई कहता था भौतिकता जीवन का अन्तिम छोर है, कोई कहता था अ-क्रिया धर्म है, कोई कहता था अकर्मण्यता ही धर्म का नाम है, कोई क्षणिकतावादी था, तो कोई नित्यतावादी । सब अपनी-अपनी पर जमे हुए थे । सबके अपने वैचारिक कठघरे थे और सब उनमे जकड़कर बन्द थे । कोई धर्मगुरु अपनी सत्ता को समेटने को तैयार न था । स्वर्ग-नर्क बिक रहे थे, लोग खरीद रहे थे । धर्म और दर्शन के नाम पर अराजकता फैली हुई थी । अव्यवस्था, मनमानी, औद्धत्य और स्वैराचार ने धर्म की पवित्रता को खण्डित कर दिया था । वर्ग-स्वार्थ की दूषित भावनाओं का बोलबाला था । अहिंसा, मैत्री, अपरिग्रह और सत्य जैसी उदात्त

सत्ताएँ खतरे में थीं । सर्वोदय की जगह वर्गोदय ने ले ली थी । जीवन की उज्ज्वलता विलुप्त थी, ढकोसले बढ़ गये थे । धर्म एक व्यापार बन गया था, प्रजा जीवन के बनावटीपन से संत्रस्त थी । सरलता, शिष्टता, निश्छलता, सादगी और सत्य के लिए कोई स्थान शेष न था । तथाकथित धर्मगुरुओं से लोकमानस ऊब गया था । जनता अशान्त थी और किसी युगप्रवर्तक की प्रतीक्षा में पलकें बिछाये खड़ी थी ।

वैशाली के भाग्य खुले

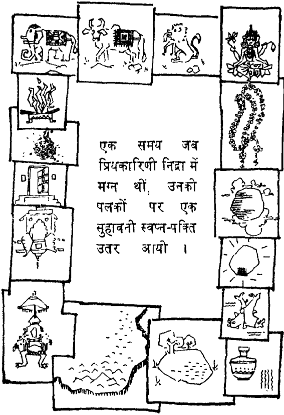
जैसे प्राची से सूर्योदय होता है और अन्धकार की सत्ता हार जाती है ठीक वैसे ही विशाल नगरी वैशाली के भाग्य खुले । उस विशाला ने पाप और अनाचार के बोझ को हलका करने का सकल्प किया ।

जब इर्दगिर्द की जनता धर्मान्ध मांसलोलुपों के चंगुल में कराह रही थी तब समृद्धियों में प्रचुर विशाल वैशाली एक अनुकरणीय गणतन्त्र की सिंहासन थी । सब सुखी थे, समृद्ध थे, कहीं कोई शोषण न था, सब एक-दूसरे पर विश्वास और प्रीति

रखते थे। इस गणतन्त्र के नायक थे महाराजा चेटक। चेटक की रूपसि पुत्रियों में से एक का नाम था त्रिशला। त्रिशला का विवाह कुण्डलपुर (कुण्डग्राम) के शासक ज्ञातृवंशीय क्षत्रिय राजा सिद्धार्थ से हुआ। त्रिशला स्वभाव से कोमल, वाणी से मृदु और हृदय से उदार थीं। वे सबकी प्रिय थीं, सब उनको प्रिय थे। वे जहाँ जाती, जिससे भी मिलतीं उसके मन पर अपने आकर्षक और गुणसंपन्न व्यक्तित्व की गहरी छाप छोड़तीं। महाराज सिद्धार्थ की तो वे सिद्ध अर्थ थीं, वे उन्हें अत्यधिक प्रिय थीं। इसी कारण उनका नाम 'प्रियकारिणी' भी था; प्रिय करना, प्रिय बोलना त्रिशला का सहज संस्कार था। वे भारतीय नारी थीं, उनमें एक आदर्श नारी के सभी गुण विद्यमान थे। वे प्राची की भाँति ज्योतिर्मती और उषा की भाँति सगर्भ थी। उनमें एक सूर्योदय प्रतीक्षित था।

एक सत्य : सोलह स्वप्न

एक समय जब प्रियकारिणी अपने राजभवन में निद्रालीन थीं, रात्रि के पिछले पहर में उनकी पलकों पर एक सुहावनी स्वप्न-पंक्ति उतर आयी।



एक समय जब प्रियकारिणी निद्रा में मग्न थीं, उनकी पलकों पर एक सुहावनी स्वप्न-पक्ति उतर आयी ।

जैसे वर्षा के आकाश में कभी-कभार हंसों की कतार चलती है, वैसे ही सोलह सपने त्रिशला को अपने मन के आकाश पर दिखायी दिये । आषाढ़ सुदी छठ की रात्रि का अन्तिम पहर संसार के लिए एक विभूति के उदय का निमित्त बना । त्रिशला ने देखा उनके सामने एक मद में झूमता हाथी, ऊँचे कन्धों-वाला शुभ्र बैल, कमल के सिंहासन पर बैठी लक्ष्मी, दो सुगन्धित मालाएँ, नक्षत्रों की सभा में बैठा चन्द्र, उदयाचल पर अंगड़ाई भरता सूर्य, कमल के पत्तों में ढंके दो स्वर्ण-कलश, जलाशय में क्रीड़ारत मछलियाँ, स्वच्छ जल से भरपूर जलाशय, गंभीर घोष करता समुद्र, मणिजटित सिंहासन, रत्नों से प्रकाशित देवों का विमान, धरणेन्द्र का गगनचुम्बी विशाल भवन, रत्नों की विशाल राशि और निर्धूम अग्नि अपनी संपूर्ण शोभा में उपस्थित हैं । स्वप्नवेला में हस्त नक्षत्र था, मंगल और विभूति का प्रतीक । सपनों को देख त्रिशला की नींद खुल गयी । वे सोचने लगीं, ऐसा कभी नहीं हुआ, आज की रात क्यों हुआ ? उनके भीतर-ही-भीतर हर्ष की लहरें दौड़ गयीं, उनका चित्त उत्कण्ठित था, मन हर्षविभोर । कुतूहल में उलझीं वे सिद्धार्थ के लिए उत्कण्ठित हो

उठीं । राजा सिद्धार्थ एक कुशल निमित्त-विज्ञानी थे, स्वप्न-विज्ञान में अभिज्ञ । वैसे उन दिनों के जैन शासक एक कुशल प्रशासक होने के साथ ही प्रकाण्ड विद्वान् भी होते थे ।

सवेरे की दिनचर्या से निवृत्त होकर त्रिशला उल्लास में पगीं राजा सिद्धार्थ के समीप पहुँचीं । राजा ने प्रियकारिणी का यथोचित सम्मान किया और इतने सवेरे आने का कारण पूछा ।

त्रिशला की मिठास से पशु-पक्षी तक परिचित थे । कर्णमधुरा वाणी में उन्होंने सारे स्वप्न कह सुनाये । राजा सिद्धार्थ ने फल प्रकट किया । वे सत्य की अगवानी में भावविभोर कहने लगे–"इस घर में एक महान् विभूति जन्म लेने को है । अन्याय से जूझनेवाले न्याय का, हिंसा को ललकारने वाली अहिंसा का, असत्य को चुनौती देनेवाले सत्य का, पाप से संघर्ष लेनेवाले महापुण्य का उदय होना चाहता है । तुम भाग्यशाली हो त्रिशले, तुम्हारी कोख से संसार की एक अपराजिता ज्योति का जन्म होगा ।"

हाथी से हुताशन

राजा ने क्रमशः बताया, हाथी महानता का प्रतीक है, प्रतीक्षित बालक महान् होगा, सन्तप्त विश्व का उद्धारक। बैल धर्म का चिह्न है, बालक सत्यसन्ध और धर्मनिष्ठ होगा, किसी धर्म का प्रवर्तक; सिंह पराक्रम और अपार ऊर्जा का द्योतक है, निश्चय मानो वह अतुल बल का धनी और पराक्रमी होगा; लक्ष्मी का शुभ दर्शन उसके राज्याधिकार का प्रतीक है; मालाएँ उसकी कान्तिमान सुरभित सुस्फीत देह की सूचक हैं; चन्द्र और सूर्य इस बात के संकेत हैं कि बालक सहिष्णु, धीर-गंभीर और तेजस्वी होगा, वह अज्ञान के निबिड़ अन्धकार को नष्ट करेगा और संसार में एक परम-ज्योति की स्थापना करेगा; स्वर्ण-कलश उसकी करुणा की पताकाएँ हैं; मछलियों का युग्म अनन्त सौख्य की उपलब्धि का सूचक है; जलाशय संवेदना का इंगित है; समुद्र उसकी विशालता का परिचायक है; सिंहासन उसके वर्चस्व और प्रभुत्व का प्रतीक है; देवों के विमान और धरणेन्द्र का भवन उसकी कीर्ति के द्योतक हैं; रत्नों की राशि उसके गुणों की सूचक है; यह बताती है कि वह लोकोत्तर

गुणों से विभूषित होगा, और निर्धूम अग्नि उसके महानतम होने का प्रतीक है। वह मोक्षगामी होगा।

सब कुछ विलक्षण

ज्ञातृवंश में एक विभूति के जन्म का भाग्यशाली संवाद पाकर त्रिशला का मन, अपार वत्सलता और उल्लास से भर उठा। वे उस भाग्यशाली क्षण की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा करने लगी। कहते है उस रात सिद्धार्थ का घर-आगन देवोत्सवों का रासमंच बन गया था। सारा उपनगर एक सहज उमग और उल्लास का अनुभव कर रहा था। फसलों पर हरीतिमा उमड़ी पडती थी, पशुओं ने परस्पर वैर छोड़ दिया था। सबकुछ विलक्षण किन्तु सुहावन-सुखद दिखायी देता था। नगर की डगर-डगर आनन्द में डूबी थी।

देवियों ने तो रानी की सेवा की ही, किन्तु छाया की तरह आठों याम पास बनी प्रियंवदा ने उनकी जो सेवा की, वह शब्दातीत थी। उसने त्रिशला की, उसने तीर्थंकर वर्द्धमान की दोनों की ही परिचर्या की। उसकी सेवा के आगे सेवा भी हार

मान गयी थी । उसने त्रिशला का मनोरंजन किया, आठों याम पलकों पर व्यतीत किये । उसने प्राणों की चिन्ता किये बिना त्रिशला की सुख-सुविधाओं का प्रतिक्षण ध्यान रखा । अप्रमत्त परिचर्या प्रियंवदा का स्वभाव था ।

धन्य, विशाला वैशाली

नौ मास सात दिन की समाप्ति पर विशाला वैशाली ने एक विश्ववन्द्य वैशालिक को जन्म दिया, एक ऐसी विभूति को जिसने विश्वधर्म की स्थापना की, जिसने हिंसा को पराजित किया, जिसने असत्य और अन्याय को हराया, जिसने आडम्बर और विकृतियों को ललकारा और जिसने लोकचिन्तन का एक स्वस्थ पथप्रदर्शन किया । वैशाली की विशालता कृतकृत्य हुई और चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को प्रियकारिणी ने एक अद्वितीय ऊर्जा को जन्म दिया ।

उस समय रात अपने अन्तिम पड़ाव पर थी । लग रहा था जैसे अज्ञान की रात जा रही है, ज्ञान का सूरज उग रहा है । चन्द्र उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र



मनुष्यता का इससे बड़ा शृंगार आज तक नहीं हुआ ।

पर स्थित था । ऐसी भव्य मंगलप्रद वेला में तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर का जन्म हुआ । उनकी देह सुवर्ण की आभा लिये थी और मुखमण्डल अगणित सूर्यों को पराजित करनेवाली दीप्ति में दमक रहा था । उनके जन्म ने नगरी को निरापद, निष्कण्टक और सुखी बना दिया था, प्राणिमात्र शान्ति और सुख की सांस ले रहा था । ऐसा लग रहा था जैसे किसी भटकी हुई नाव को उसका सही मल्लाह मिल गया है, पपीहे को स्वाति की बूंद मिल गयी है, श्रान्त थकेहारे पथिक को विशाल वट या डूब रहे को तट मिल गया है । सारा कुण्डग्राम तो हर्षोन्मत्त था ही, वैशाली के प्राण फूले न समाते थे ।

सौधर्म इन्द्र का आसन स्वयमेव कांप उठा । अवधिज्ञान से उसने जाना कि कुण्डग्राम में चौबीसवें शलाका पुरुष ने जन्म लिया है । वह हर्ष में झूम उठा, तुरन्त समस्त देव-परिवार के साथ नाचता-गाता कुण्डलपुर पहुँचा । राजभवन में पहुँच उसने बधावे गाये, जन्म का समाजोत्सव किया । कुण्डलपुर के वे क्षण आज भी वहाँ के वायुमंडल में प्रतिध्वनित हैं । माता त्रिशला की स्तुति में इन्द्र ने कहा—

"तू जगन्माता है, तेरा पुत्र विश्वधर्म का प्रवर्तक होगा । वह जगत् को निर्भ्रान्त मार्ग बतायेगा । उसे अज्ञान से मुक्त करेगा, उसका पथप्रदर्शक होगा । तू परम भाग्यशालिनी है । इस संसार में तुझ-सा धन्य न कोई हुआ है, न होगा । जगदम्बे, मेरी वन्दना स्वीकार कीजिये ।"

इन्द्र ने राजा सिद्धार्थ का भी विपुल सम्मान किया । इन्द्राणी बालक को प्रसूति से बाहर लायी । सौधर्म ने उसे अपनी गोद मे उठा लिया और ऐरावत हाथी पर बैठ सुमेरु पर्वत की ओर चले । सुमेरु-स्थित सिहासन पर बाल तीर्थंकर का सुखद अभिषेक हुआ ।

बिम्ब प्रतिष्ठा

अभिषेक के बाद एक विलक्षण घटना हुई । इन्द्राणी ने बालक की देह को पोंछा किन्तु जब वह कपोल-प्रदेश पोंछ रही थी, उसके हाथ बार-बार कांप रहे थे । वह स्तब्ध और चकित थी । कपोल के जलबिन्दुओं को सोखने-सुखाने में उसने प्रचुर श्रम किया था, किन्तु यह क्या उनकी संख्या और

बढ़ गयी थी। वह ज्यों-ज्यों पोंछती त्यों-त्यों बिन्दुओं की संख्या बढ़ती जाती। अजीब असमंजस था। सब इस विलक्षणता को देख रहे थे, अन्ततः इन्द्राणी को बात समझ में आ गयी। ये बूंदें कहाँ हैं, ये तो दर्पण से स्निग्ध, निर्मल कपोल पर उसी के आभूषणों के प्रतिबिम्ब हैं। उसकी आँखें लाज में झुक गयी। ऐसे रूपवान थे बालक वर्द्धमान महावीर।

अभिषेक के बाद उन्हें वस्त्राभरण पहिनाये गये और खूब उत्सव मनाये गये। सबने देखा बालक के दायें पग पर सिह का चिह्न है, उनके भावी पुरुषार्थ का प्रतीक। आगे चलकर यही उनका चिह्न बना।

बालक महावीर के जन्म से ही राजा सिद्धार्थ का बल-वैभव बढ़ने लगा, उनकी कीर्ति फैलने लगी। सब ओर सिद्धार्थ एक उदाराशय राजा के नाम से विख्यात हो गये। अतः उन्होंने उनका नाम 'वर्द्धमान' रख लिया।

अभिषेक के बाद इन्द्र उन्हें वैशाली के राज-मार्गों से कुण्डग्राम लाया और इन्द्राणी ने उन्हें पुनः यथास्थान लिटा दिया।

तीर्थंकर वर्द्धमान दूज के चाँद की तरह बढ़ने लगे। उनकी बाललीलाएँ विलक्षण और मनोहारी थीं। वे अपनी शिशुसुलभ क्रीड़ाओं से सिद्धार्थ और त्रिशला का मनोरंजन करने लगे। जन्म से ही वे विलक्षण प्रतिभा से संपन्न थे, विशिष्ट थे, तीर्थंकर थे। उनका शरीर अनुपम सुषमा और शोभा का तीर्थ था, रक्त दूध की भाँति पवित्र और उज्ज्वल, वाणी मधुर; शंख, चक्र, कमल, यव, धनुष इत्यादि एक हजार आठ शुभ चिह्नों से युक्त अलौकिक कान्ति का धाम थी उनकी वह दिव्य देह।

वे जैसे-जैसे बढ़ते गये उनका पग सांसारिकता से ऊपर उठता गया। वैराग्य और त्याग उनमें प्रकट होने लगे। आत्मपरिष्कार और आत्मशोध की ओर उनकी प्रवृत्ति देखकर सभी आश्चर्यान्वित थे।

माता त्रिशला जब उन्हें पालने में पौढ़ लोरी सुनातीं तो उनकी आध्यात्मिक दीप्ति को निर्निमेष देखती ही रह जाती। वे सोचने लगतीं, कितना प्रतापी बालक है, जब से आया है, घर-आंगन, नगर-डगर सभी वैभव के भाण्डार बने हुए हैं। कहीं कुछ घटता ही नहीं, दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता ही जाता है।

जहाँ दृष्टि जाती है, विपुल समृद्धि। कुए सजल, तालाब लबरेज, खेत हरे-भरे, खलिहान प्रचुर, प्रजा सुखी-नीरोग। चारों ओर सुभिक्ष। जब वे लोरी गातीं तो ऐसा लगता कि उसके बोल तीर्थंकरत्व की कोई भूमिका घड़ रहे हों, वे आत्मचिन्तन की लय में कहतीं–

"शुद्धोऽसि सिद्धोऽसि निरंजनोऽसि
संसारमाया परिवर्जितोऽसि
न मेऽसि कश्चिन्न च कस्य चाहम्
निरस्त निःशेषित बन्धनोऽसि ।

अहो ! प्रनष्टः खलु कर्मदाघः
प्रवर्षति ज्ञानवलाहकेऽस्मिन्
सम्यक्चरित्राध्वनि संचरिष्णोः
पदांकमाचुम्बति मोक्षलक्ष्मीः ॥

(तुम शुद्ध हो, सिद्ध हो, निर्मल हो, संसार की माया से निर्लिप्त हो ! (और फिर वे सोचने लगीं इस बालक ने) **अहो, इस ज्ञान-मेघ ने बरसकर कर्म का ताप शान्त कर दिया है; सचमुच, सम्यक् चारित्र के मार्ग पर चलनेवालों के चरण मोक्षलक्ष्मी अपनी गोद में समेट उनका आचुम्बन करती है ।)**

वर्द्धमान की आध्यात्मिक अनुभूति बड़ी गहन, प्रखर थी। ज्ञान की दीप्ति से उनकी काया अनवरत जगमगायी रहती। उन्हें देखकर लगता जैसे कोई अखण्ड अबुझ परमज्योति अपने शैशव में उमंगित हो। सम्यक्त्व से उनके नेत्र निर्मल थे, उनमे नित-नयी गहराइयाँ अंगड़ाई ले रही थीं। वे आध्यात्मिक समृद्धियों के पुज थे।

अंकुर बना विशाल

जैसे-जैसे दिन-पर-दिन और रात-पर-रात गुजरते, वर्द्धमान एक शिशु-अक्षयवट की भाँति बढ़ते जाते। उनकी तत्स्पर्शिता बढ़ती जाती। वैराग्य और निष्कामता उनके व्यवहार मे जब-तब प्रकट होती ही थी। आत्मशुद्धि की ओर उनका पग तेजी से उठ रहा था। उन्हें संसार के वैभव फीके और स्वादहीन लगने लगे। वे लोकजीवन में व्याप्त बुराइयों को भी ध्यान से देखने लगे। उन्हें मनुष्य का मनुष्य द्वारा शोषण बुरा लगता, इस सबके लिए उनका मन विद्रोह कर उठता। वे एक ऐसे समाज की रचना चाहने लगे जहाँ सब समान

हों और जहाँ प्राणिमात्र को जीने का अधिकार हो। धीरे-धीरे सत्य की खोज में उनका तन-मन भीगने लगा।

वे आठ वर्ष के हुए, लगा जैसे सम्यक्त्व के आठ अंग एक अपूर्व व्यक्तित्व ग्रहण कर रहे हों। राजा सिद्धार्थ का भवन शोभा-तीर्थ बना हुआ था।

उन्हें क्या नहीं मिलता

उनका निष्काम-निर्लिप्त जीवन सबको प्रेरणा देनेवाला था। उनके व्यवहार में सर्वत्र एक निर्मल निःकांक्षा व्यक्त होने लगी। मुक्ति की निःकांक्षा में मोक्ष की पीठिका बनने लगी। वैशाली-अंचल की सीमा-लांघती उनकी निष्कामता सबकी जीभ चढ़ गयी। उन्हें मोक्ष की आकांक्षा नहीं थी, मोक्ष को उनकी आकांक्षा थी; मोक्ष से उनकी गरिमा नहीं बढ़ी, मोक्ष का गौरव उनसे बढ़ा। ठीक भी है जो आकांक्षा रखते हैं, उन्हें कुछ नहीं मिलता, और जो कुछ नहीं चाहते, निष्काम साधना करते हैं, उन्हें क्या नहीं मिलता; संसार के सारे वैभव उनके चरणों

पर लोटते हैं। निष्कामता पर संसार अपना सर्वस्व न्योछावर करता आया है।

आठ वर्ष की वय से ही वर्द्धमान के जीवन में सामायिकता और सामयिकता ने जगह बना ली। उनका मन संसार के समस्त प्राणियों के लिए करुणा में डूबा था। समत्व उनकी सांस थी, परिणाम-विशुद्धि पर उनका ध्यान प्रतिपल था। मन से, वाणी से और कर्म से वे सम्यक्त्व मे प्रवृत्त थे। अनौचित्य को उनके जीवन मे कोई स्थान न था। उनकी मनीषा प्रखर थी ही, विवेक उनके जीवन का चौकस प्रहरी था।

जीवन ही संदेश

अहिंसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के लिए उनके जीवन-द्वार आरम्भ से ही उन्मुक्त थे। वैचारिक ताजगी पर उनका ध्यान सतत् बना हुआ था। वर्द्धमान का जीवन ही उनका सदेश था। उनके आचरण की, चर्या की, व्यवहार की निष्कपटता और तेजस्विता आश्चर्यजनक थी। वहाँ कोई द्वैत या भ्रान्ति न थी, सब कुछ निर्धूम अग्नि की

भाँति स्पष्ट और प्रकाशित। वे इस वय में भी जीते-जागते, चलते-फिरते ज्ञान-तीर्थ थे। नाम उनके अनेक रहे होंगे, संभवतः उतने जितने से ज्ञान को, प्रतिभा को, और पुरुषार्थ को अभिहित किया जा सकता है, किन्तु पाँच अत्यन्त लोकप्रिय थे। सौधर्म ने उन्हें 'वर्द्धमान' कहा, सिद्धार्थ भी इसी नाम से पुकारते थे, संजय-विजय चारण मुनियों ने उन्हें 'सन्मति' कहा, कुण्डलपुर के नागरिक उन्हें 'वीर' कहते थे, संगम देव ने उन्हें 'महावीर' और उज्जयिनी के स्थाणुरुद्र ने उन्हें 'अतिवीर' कहा। जनश्रुतियों ने उनकी गुणवत्ता को नामों के कई सुन्दर-साँचों में ढालने का प्रयत्न किया।

क्रान्ति का श्लोक

निःसंदेह वर्द्धमान महावीर का समग्र जीवन क्रान्ति का एक श्लोक था, मुक्ति का एक दिव्य छन्द था, अहिंसा का एक रचनात्मक सूत्र था, और सत्य की एक विशाल शोधशाला था।

सतह संसार, तल वैराग्य

शैशव के बाद कैशौर्य, शरद् के बाद ग्रीष्म, ने वर्द्धमान के जीवन में माधुर्य का एक अध्याय

खोलना चाहा । कली ने पुष्प का आकार ग्रहण करना आरम्भ किया, चारों ओर सौरभ फैलने लगा। शैशव के पर्यंक पर कैशोर्य ने अंगड़ाई ली। धूप-छाँव एक साथ व्यक्त हुए, शैशव बिदाई की मुद्रा में, कैशोर्य आगमन की भंगिमा में। एक अपूर्व वयःसंधि। एक वय द्वार की ओर, एक आंगन की; सब कुछ भव्य, आकर्षक और मनोज्ञ; किन्तु वर्द्धमान शान्त, सुस्थिर, अविचल। उनका व्यक्तित्व किसी विलक्षण धातु का बना था। जैसे कमल के पात पर पड़ा जल-बिन्दु निर्लिप्त-निष्पक रहता है, वर्द्धमान का जीवन भी वैसा ही अनासक्त बना हुआ था। वे ससार में कहने को थे, थे असल में उससे निवृत्त। उनके व्यक्तित्व की सतह पर संसार था, तल में वैराग्य।

वे सौन्दर्य की राशि थे। तारुण्य उनसे धन्य था, यौवन पराजय के भय से उनसे किनारा कस रहा था। विलक्षण देह, सुगठित अवयव, ऊर्जस्वी मन, ओजस्वी मुख, अंग-प्रत्यंग में एक अपूर्व पुरुषार्थ करवट ले रहा था।

ऐसे मे राजा सिद्धार्थ के पास विवाह के प्रस्ताव पर प्रस्ताव आने लगे। राजा सोलह स्वप्नों की

घटना से ही सतर्क थे । वे मौन थे, किन्तु उनका पितृत्व सक्रिय था । उन्होंने रानी त्रिशला के साथ इस ओर रुचि लेना आरम्भ किया । वर्द्धमान का जीवन-लक्ष्य वे जानते थे । वे इस तथ्य को कई बार पहिचान चुके थे कि वर्द्धमान का मन सांसारिक पकड़ से बहुत ऊँचाई पर है ।

वर्द्धमान दिग्भ्रमित विश्व को स्पष्ट दिशा देना चाहते थे । वे तीर्थंकरों के धुँधल गये पद-चिह्नों को गहराइयाँ देना चाहते थे, उन्हें नया आयाम और नया वैभव देने की आकाक्षा उनमें प्रबल थी । जैन-दर्शन की परम्परा पर रूढ़ियों की जो राख जम गयी थी, वर्द्धमान अपनी साधना से उसे निर्धूम अग्नि का रूप देना चाहते थे । इन अंगारों में उन्हें आठ कर्म तो नष्ट करने ही थे, धर्म और समाज की विकृतियों को भी स्वाहा करना था ।

एक नयी राह

निरीह पशुओं का हाहाकार उनकी चेतना और संवेदना को अलग से पुकार रहा था, ऐसे में वे लौकिकता के पाश में कैसे बंधते ? मुक्ति के लिए

मुक्त रहना आवश्यक था । वे जानते थे स्त्री मुक्ति की राह में सोने की जंजीर है, पुरुष साधना-पथ में लौह शृंखला, दोनों एकदूसरे के सदर्भ में बन्धन है । मुक्तिकामी को निष्काम होना चाहिये, इसीलिए वर्द्धमान में अहिसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की अणुता ने अब विराट भाव ग्रहण करना आरम्भ कर दिया था । अब उनका अदम्य यौवन, विचक्षण पुरुषार्थ, बहुचर्चित पराक्रम, अप्रतिम तेज एक नयी राह खोज रहा था । ससार से भिन्न, किन्तु ससार के कल्याण में ।

उन दिनों जितशत्रु कलिग-जनपद का शासक था । जितशत्रु की कन्या षोडशी सुन्दरी थी । नीला आकाश और हरी साडी पहिने धरती उसके सौन्दर्य की कथा रोज ही एक-दूसरे से कहते थे । उसकी आशुतोष छबि कलिग का गौरव थी । मासल पुष्ट देह, सुवर्णचम्पकनिभ वर्ण, शिरीष पुष्प-सी मृदुल, निर्लोम अवयवा, पूर्णेन्दुतुल्य मुख, प्रान्तारक्त सुविशाल नेत्र, मरालस्वना राजकुमारी यशोदा ने राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला का मन जीत लिया । वर्द्धमान से यशोदा का विवाह लगभग

निश्चित हो गया। तैयारियाँ होने लगीं, नागरिकों मे हर्ष की लहर दौड़ गयी, वीथि-वीथि मंगल-वाद्यों से गूँज उठी। सब ओर नृत्य-गीत के सुमधुर आयोजन होने लगे।

हर्ष-ध्वनियों में शोकगीत

वर्द्धमान इस सबसे अनभिज्ञ थे। उन्हे इसका कोई पता न था। उनका जीवन-संदर्भ सर्वथा भिन्न था। विवाह का संवाद उन्हें विषम लगा, हर्ष-ध्वनियों मे शोकगीत की तरह वह उनके मन पर उतरा। वे सोचने लगे—"मै सत्य का आराधक हूँ, आत्मा की खोज में संलग्न। मुझे जीवन की श्रेष्ठताओं का वरण करना है, कड़ी तपश्चर्या मेरी प्रतीक्षा कर रही है। इस निर्मल लक्ष्य को छोड़कर जीवन की इन तुच्छताओं मे भला कैसे उलझूं ? परिग्रह, साधना मे सबसे बड़ी बाधा है; पारिवारिक संबंध परिग्रह हैं। इनका सर्वथा त्याग करना होगा।" वे अनुप्रेक्षण करने लगे। अभीक्षणता बढ़ने लगी। विवाह को उन्होंने अस्वीकार कर दिया। लोग इसे भागना कह सकते थे, वे उसे स्वयं में जागना जान रहे थे।

मोह या मोक्ष : दो विरोधी ध्रुव

वर्द्धमान के हृदय में कई अनुभूतियाँ बड़ी तीव्रता से विवर्त ले रही थी, वे विचार कर रहे थे—"माता-पिता हैं, उनकी आज्ञा माननी चाहिये, किन्तु मैं आध्यात्मिक दुर्द्धर्ष पथ का यात्री हूँ। मुझे संयम का पाथेय चाहिये। दादा का हृदय ममता का अतल समुद्र है, माँ की वत्सलता का कोई पार नही है, किन्तु यह सब मोह है। मोह और मोक्ष दो परस्पर विरोधी ध्रुव है। इनमे से किसी एक को ही चुनना होगा। मोह बन्धन है, त्याग मुक्ति। मै मुक्त होने आया हूँ, मुक्त करने आया हूँ, मै इस कीचड़ में क्यों कर फंसूं? मैं बधूंगा तो इस विषम युग मे मुक्ति का प्रवर्त्तन कौन करगा? दास का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता, पराधीनता आत्मोदय को कुण्ठित करती है। आत्मोदय स्वाधीनता की स्थिति है। वासना दासता है, साधना के लिए उन्मुक्तता चाहिये, कुण्ठा मे साधना कैसी? यह वैभव कब किसका हुआ है? सब कुछ क्षणजीवी है, मेघ की तरह क्षणिक, पानी के बुद्बुद् की भाँति भंगुर, नश्वर, अनित्य। और फिर प्राणियों का यह व्यापक वध,

समाज में विकृतियों का दुर्निवार शासन !! स्वार्थ ने धर्म की पावनता को खण्डित कर दिया है। चारों ओर कपट और मायाचार पनप रहे हैं, मनुष्य मनुष्य का शोषण कर रहा है। हिंसा, अनृत और अज्ञान, भ्रम, दुराचार और दोहन, वैर, अविश्वास और आडम्बर की कोई सीमा नहीं है। यज्ञों में निरपराध पशुओं को झोंका जा रहा है, उनके दुस्सह चीत्कार मेरी करुणा को पुकार रहे हैं। तो क्या मैं भी इस काम, वासना, हिंसा, अज्ञान, असत्य, पराधीनता, अन्धासक्ति और आडम्बर के दुर्भाग्यपूर्ण अनुबन्ध पर आँखें मूँद हस्ताक्षर कर दूं ? ऋषभ से पार्श्व तक की उदात्त परम्परा मेरे सम्मुख है, मुझे एक वैज्ञानिक की भाँति आत्मा की खोज में कुछ नये अध्याय जोडने हैं, इस उपलब्धि के लिए चाहिये संयमपूर्ण साधना।" विचारों की तीव्रता ने वर्द्धमान महावीर को गम्भीर कर दिया। उनकी मुख-मुद्रा पर अस्वीकृति स्पष्ट थी।

यहां, कौन-किसका

वैशाली के राजकुमार का हृदय विप्लव से भरा हुआ था। वे एक आध्यात्मिक क्रान्ति की

सशक्त भूमिका की तरह जागृत थे। पता नहीं कब वे पिता सिद्धार्थ के निकट जा पहुँचे और कहने लगे–"पिताजी मैं आपका पुत्र हूँ , किन्तु आप ही कहे यहाँ कौन-किसका है ? सारा संसार अन्याय और अनीति की राह चल रहा है, क्या मैं भी इस राह पर चलने लगूं ? मुझे लगता है कोई अभिनव राजमार्ग मेरी प्रतीक्षा कर रहा है जो एक ऐसे लक्ष्य तक पहुँचता है जहाँ वैषम्य का कोई प्रश्न ही नहीं है, सब कुछ समत्व के वातावरण में स्पन्दित है। क्या इतने शोषितों, पीड़ितों और सतप्तों के बीच मुझे भोगरत जीवन का अधिकार है ? क्या इस व्यापक दरिद्रता और जड़ता के होते मुझे समृद्धियों के बीच विलासमग्न होने का कोई अधिकार है ? मुझे शुभाशीष दीजिये पिताजी कि मैं वैषम्य से जूझ सकूँ और गहन अन्धकार के बीच से किसी अदृप्त आलोक को खोज सकूं। विश्व को सहअस्तित्व का महान् संदेश दे सकूं। पिताजी जहाँ भी कोई धडकन है, जीवन है, आदर के योग्य है, रक्षा के योग्य है । 'हम जियें और सबको सुख से जीने दें' इस सूत्र को लोकजीवन में प्रतिष्ठित करने

के लिए मुझे संसार से निर्लिप्त रहने की अनुमति दीजिये।"

सिद्ध अर्थ वर्द्धमान

सिद्धार्थ ने जब वर्द्धमान के विचार सुने तो उनका मस्तक गौरव से ऊँचा उठ गया। उन्हें लगा कि उनका पितृत्व धन्य हुआ है। वे आरम्भ से ही वर्द्धमान के स्वाभाविक जीवन का सम्मान करते थे और उनमे एक निर्बाध व्यक्तित्व के दर्शन करना चाहते थे। उन्हे विश्वास हो गया कि वर्द्धमान के अविवाहित रहने में ही विश्व का कल्याण है। अपनी ओर से वर्द्धमान को इस विषय में कभी कुछ न कहने का निश्चय सिद्धार्थ ने किया। एक मौन स्वीकृति वर्द्धमान को मिल गयी। सिद्धार्थ का पितृत्व भावी तीर्थकरत्व से पराजित हुआ, वर्द्धमान अविचल हो गये।

ईख में रस

राजा सिद्धार्थ को वर्द्धमान के वैराग्य का पूर्वाभास था। उनके सामने वृषभ, रत्नराशि,

निर्धूम अग्नि अर्थात् धर्म-प्रवर्त्तन, कीर्ति और कर्म-दहन के स्वप्न सत्य होने लगे । उनके प्राण एक अपूर्व आनन्दानुभूति में झंकृत हो उठे । एक कल्पनातीत पुलक उनकी रोमावलियों पर दौड़ गयी । उन्होंने सोचा–"वर्द्धमान वय में कम, प्रज्ञा और प्रतिभा में ज्येष्ठ है । उसने जो विचार रखे है , वे मननीय है, जगत् का बहुत बड़ा कल्याण उसमें है । इससे इक्ष्वाकुवश सरस कीर्ति से भर उठेगा, सन्तप्त मनुजता को राहत मिलेगी, शान्ति और सुख प्राप्त होगा ।"

सिद्धार्थ ने त्रिशला से कहा । त्रिशला ने सोचा वर्द्धमान का मन अभी कच्चा है, बदल जाएगा ममता आशावादी होती है । माँ का मन उस क्षण की प्रतीक्षा करने लगा; किन्तु सिद्धार्थ की बात मानकर जितशत्रु को अस्वीकृति भेज दी गयी ।

वर्द्धमान महावीर ने उन्तीसवे वर्ष में प्रवेश किया । यह वर्ष उनके जीवन का सबसे अधिक क्रान्तिकारी वर्ष था । इसमें उनकी आस्था और संकल्पशक्ति पकी और साधना ने प्रखर रूप धारण किया ।

सिद्धि की ओर पग

राजा सिद्धार्थ के यहाँ वैभव की कोई कमी न थी। सबकुछ सहज-सुलभ था, सत्ता, सिंहासन, सम्पदा; किन्तु वर्द्धमान युग से आगे की चीज़ थे। उनका चित्त भवसागर के उस तट पर चरम सत्य की खोज कर रहा था। उत्तरोत्तर उनका मन मोक्ष की दुर्द्धर साधना के लिए तैयार हो गया था। इस साधना के सम्मुख सांसारिक सुख उन्हें अकिंचन लगते थे। उनका अन्तःकरण एक अपूर्व आनन्द में झंकृत था। सारे व्यवधान, अमंगल, कोलाहल, मोह और बन्धन शिथिल और शान्त हो गये थे। उन्हें लग रहा था जैसे उनके पाँव स्वयमेव किसी विचक्षण सिद्धि की ओर बढ़े जा रहे हैं।

अस्मिता पर विजय

उन्हें पूर्वभव का स्मरण हो आया। वे सोचने लगे—"आज जिन नश्वर ऐश्वर्यों के बीच में हूँ, इनसे कई गुना वैभव मैं भोग चुका हूँ। उसके आगे ये नगण्य हैं। अब संयम और त्याग का अपूर्व अवसर उपस्थित हुआ है, अतः मैं आत्मशुद्धि की दिशा में

पग उठाऊँगा । मोह, माया, ममता और अस्मिता पर विजय प्राप्त करूँगा । अहंता के पंक से ऊपर जीवन की निर्मलता का अनुसंधान करूँगा; जो इन्द्रियातीत है, उसे उपलब्ध करूँगा ।" अनवरत अनुप्रेक्षण में उनकी पलकें विनत थी । उन्हें उस आत्मलीन अवस्था में देखकर वीतरागता स्वयं कृतज्ञ थी ।

प्रकाश की वन्दना

ऐसे में जब वैराग्य उनके अन्तस्तल में उत्ताल तरंगे ले रहा था, लोकान्तिक देवों ने उनकी वन्दना की–"प्रभो, आपने जिस जीवन के वरण का संकल्प किया है, उससे समस्त लोकों का कल्याण होगा। आप तप, त्याग, संयम और ज्ञान से अक्षय पद प्राप्त करेंगे और अखिल विश्व के दृष्टा बनेंगे । विश्व का उद्धार आपकी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहा है, भगवन् ! !"

लोकान्तिकों की वन्दना ने वर्द्धमान महावीर को अविचल बना दिया । आत्मसाधना का उनका संकल्प सुदृढ़ हो गया ।

इन्द्र ने अवधिज्ञान से वैराग्य के बीजांकुरण का समाचार सुना तो वह उल्लास में पगा कुण्डलपुर आ पहुँचा । वहाँ उसने कई हर्षोत्सवों का आयोजन किया ।

संघर्ष : वन में, भवन में

इधर त्रिशला ने जब वर्द्धमान की आध्यात्मिक जागृति का संवाद सुना तो उनका मातृत्व मचल उठा । ममता बावली हो उठी, अब क्या हो ? मनःप्राण सुन्न । राजसी वैभव में पला मेरा पुत्र बीहड़ वन-पर्वतों में कैसे रहेगा ? कड़ा शीत, दुस्सह ग्रीष्म और मूसलाधार वृष्टि उसे कैसे सहन होंगे ? कहाँ उसकी यह सुकुमारता, यह कोमलता और कहाँ वह कंकरीली धरती, उत्तप्त शिलाखण्ड, सिंहों की गर्जना, हाथियों की चिघाड़, कई बनैले हिंस्र पशु····वह सहसा इस आशंका से दहल उठी । उसका रोम-रोम काँप उठा । वह सोचने लगी जिन सुकोमल पगतलियों में प्रकृति ने स्वयं महावर लगाया है, जिस लाड़ले ने स्वप्न में भी संघर्ष नहीं किया है, वह इन विषम परिस्थितियों

से कैसे जूझेगा ? कहाँ राजसी शैय्या, कहाँ कठोर चट्टान; कहाँ बीहड़ वन, कहाँ सुविधासुख-संपन्न राजभवन ? सोचने की तीव्रता ने त्रिशला को मूर्च्छित कर दिया ।

विह्वल मातृत्व

पुत्र-स्नेह में उसे सारा संसार बिहूना लगने लगा । मातृत्व एक महान् पुत्रत्व के सम्मुख खड़ा था । सारा दृश्य मर्मस्पर्शी था । परिचारिकाओं ने रानी त्रिशला का उपचार किया; वे संतप्त हृदय से उठी और वर्द्धमान को ढूंढ़ने लगी । आगत देवों ने उन्हें विकल देखकर—सान्त्वना के स्वर में कहा—"जगदम्बे, आपका यह पुत्र महान् है । वह तेजस्वी है, विश्व का कल्याण उसके सामने है । आप इतना विलाप क्यों करती है, वह वज्रवृषभनाराचसंहनन-युक्त है । धीरज का धनी है, उदात्त गुणों से संपन्न है । उसे सर्वोच्च पद प्राप्त होगा; ऐसा पद जिसके आगे ससार के सारे पद और वैभव तुच्छ है । वर्द्धमान महावीर अकेले ही संसार नहीं तिरेंगे, वे तितीर्षुओं को भी तीर्थ दिखायेंगे । तेरी कोख धन्य है, तूने

एक लोकोद्धारक विभूति को जन्म दिया है, संसार शताब्दियों तक तेरी वन्दना करेगा ।" यद्यपि देवों के संबोधन ने त्रिशला के मन को हलका किया, किन्तु पुत्र-वियोग के इन क्षणों में वे विह्वल बनी रही । वे विश्वास ही नही कर पाती थी कि उनका लाड़ला वर्द्धमान वन की उन भयावनी स्थितियों का सामना कर लेगा । राजसी मार्दव के तपस्यालीन होने के अविश्सनीय तथ्य को उनका मन बार-बार अस्वीकार कर रहा था । कई बार ऐसा हुआ कि त्रिशला का मन वन की ओर निकल पड़ा और वहाँ की दुस्सह भयावनी स्थितियो से विह्वल-विकल लौटा । उनका मातृत्व विप्लव कर रहा था, आँखों में सावन-भादौ घिरे थे, मन ममता मे उफना हुआ था, वर्द्धमान 'चन्द्रप्रभा' पालकी पर आरूढ़ हो रहे थे ।

कुण्डलपुर का राजमार्ग जयघोषों में गूँज रहा था, त्रिशला के आँचल की संपदा दीक्षा के लिए बिदा ले रही थी । नगर के मनःप्राण वर्द्धमान की वन्दना कर रहे थे, वियोग-विह्वल ।

आत्मस्वातन्त्र्य का प्रवर्त्तन

वर्द्धमान महावीर के साथ त्रिशला के प्राण भी 'चन्द्रप्रभा' पर सवार हुए। उनकी आँखों और शुभाशीषो, अश्रुधार और सिसकियों ने, 'चन्द्रप्रभा' को अपने कन्धों पर उठाया। मानवमंगल के ये क्षण कितने भाग्यशाली थे ! आकाश आनन्दानुभूति में धरती तक झुक आया था, धरती का मन झूम रहा था, हर्ष-विभोर। देव-देवेन्द्र पालकी उठाये खण्डवन की ओर बढ़ रहे थे, उनके हर्ष की कोई सीमा न थी। वैशाली गणतन्त्र ने आत्मस्वातन्त्र्य की अभिनव जीवन-शैली का प्रवर्त्तन किया था।

जयघोषों से गगन, धरा, दिगदिगन्त गूँज उठे। आकाश से वनखण्ड तक का संपूर्ण प्रदेश एक जीवन्तता मे स्फूर्त था। आध्यात्मिक जागृति की लहर एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गयी थी। सब एक उज्ज्वलता मे अवगाहे-पगे लग रहे थे। ऐसा लग रहा था जैसे जीवन की उज्ज्वलताएँ किसी शोभायात्रा मे सम्मिलित हों। एक अलौकिक छटा वहाँ छायी हुई थी।

चारों ओर हरा-भरा, शस्य-श्यामल, सुजल-सुफल । लता, वृक्ष, द्रुम, दूर्वा-पल्लवित-पुष्पित । उनकी कोंपलों पर वसन्त का वैभव नृत्य कर रहा था । पशु अभीत, उनमे परस्पर उदाहरणीय प्रीति और निर्वैर, अपूर्व तृप्ति, विश्वास की झलक; शान्ति, सौख्य और समृद्धि बरस रहे थे ।

भावी अर्हन्तत्व

ऐसे एकान्त वनप्रदेश मे वर्द्धमान महावीर की पालकी उतारी गयी । दिग्वधुओं ने आरती उतारी, देवताओं ने समारोह किये, दिशाओं की जड़ता टूट गयी, जीवन की जोत उजल गयी । सब ओर शुभ्रता छिटक गयी । वर्द्धमान महावीर बड़े प्रमुदित भाव से पालकी मे उतरे। उनके मुखमण्डल पर भावी अर्हन्तत्व परिलक्षित था । सम्मुख एक स्वच्छ, स्निग्ध शिलाखण्ड, जिस पर स्वस्तिक अंकित था, उनकी प्रतीक्षा कर रहा था । शिला गद्गद् थी, उसके अन्तस्तल में करुणा के स्रोत खुल गये थे । वह अपना भाग्य सराह रही थी । उसे तीर्थंकरत्व के दीक्षासन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था ।

कांटों की डगर, सुख की शैय्या

वर्द्धमान महावीर स्वस्तिक पर आसीन हुए और पलक मारते उन्होंने इस असार संसार से अपना नाता तोड़ लिया, वस्त्राभूषण उतार दिये। कृत्रिमताओं और औपचारिकताओं से मुक्त एक अकृत्रिम, साहजिक अदम्य आभा प्रकट हुई। उन्होंने दिगम्बरत्व धारण किया, पांच मुट्ठियों में अपने राजसी सुकोमल, स्निग्ध केश उतार दिये, कितना सँवारा गया था इन्हें !! कहाँ यह दीक्षा, कहाँ राज्यवैभव; कहाँ यह काँटों की डगर, कहाँ वह सुख-शैय्या, कहाँ सुख-सुविधाओं से सपन्न राजभवन और कहाँ कटोर साधना का यह दुर्द्धर मार्ग। शरीर के मोह पर पूर्ण विराम लगा, प्रभु ने आत्मालोचन और शोधन का मार्ग अपनाया। सर्वोच्च की उपलब्धि के लिए वे आगे बढ़े।

गहराइयों में प्रवश

'सिद्धों को नमस्कार' की अनुगूंज के साथ उनकी आध्यात्मिक यात्रा प्रारम्भ हुई। पद्मासनी मुद्रा में वे आत्मा की अनन्त गहराइयों में निमग्न हो गये।

उन्हें देख लगता था जैसे आँखों को उनका प्रतीक्षित धन मिल गया है, पृथ्वी को उसका सर्वोत्कृष्ट शृंगार मिल गया है; लग रहा था जैसे आत्मा का कोई कुशल चित्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य के कटोरों में क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य के रंग घोले हो और वीतरागता के चित्रपटल पर अनुप्रेक्षाओं की तूलिका से कोई अप्रतिम आकार अंकित कर रहा हो, लग रहा था जैसे जीवन का कोई सुप्रसिद्ध शैलीकार कोई नयी जीवन-शैली के आविष्करण में तल्लीन हो, लग रहा था जैसे आत्मसिन्धु का खोजी उसकी अतल गहराइयों से ज्ञान के मोती बटोर रहा हो।

क्षणभंगुरता में अमरत्व

उन्हें देख प्रतीत होता था जैसे जीवन का कोई सिद्धहस्त शिल्पी क्षणभंगुरता में अमरता की प्रतिमा उत्कीर्ण कर रहा हो। धीरे-धीरे व्यर्थता घट रही थी, सार्थकता उभर रही थी; कर्मबन्ध शिथिलित-स्खलित थे, ज्ञान की ज्योति प्रबल थी; एक प्रभात

आत्मा के क्षितिज पर उदित था, उसकी किरणें प्रस्फुटित थीं ।

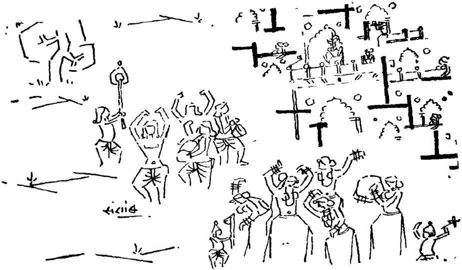
शब्दों से परे

उन्हें देख वीतरागता, अनेकान्त, महाव्रत, अनुप्रेक्षाएँ, धर्म इत्यादि के प्रतिपादन की कोई आवश्यकता नही रह गयी थी । भाषा के अभाव में भी सबकुछ स्पष्ट हो गया था । उनकी वह मुद्रा शब्दातीत थी, वयातीत थी, उसे कोई भी पढ़ सकता था, उसे आबालवृद्ध कोई भी समझ सकता था। भाषातीत उस वीतराग मुद्रा ने मानवता को धन्य कर दिया, मनुष्यता का इससे बड़ा शृंगार आज तक नहीं हुआ ।

रोशनी के प्रणाम

अंधकार हारा हुआ था, प्रकाश प्रणाम के लिए नतमस्तक था, और वर्द्धमान महावीर पलकों के तले किसी अलौकिक शोध में एकाग्र थे ।

मनःपर्यय के उषःकाल ने कैवल्य के सूरज उगने की सूचना दी ।



सारा कुण्डग्राम तो हर्षोन्मत्त था ही, वैशाली के प्राण फूले न समाते थे ।

तपश्चर्या, तपश्चर्या, तपश्चर्या, आत्मशोधन, आत्मपरिष्करण, आत्मोदय, तेजोद्दीप्त तप, प्रखर साधना, दुर्द्धर्ष संयम। वर्द्धमान महावीर का जीवन एक तपोभूमि बन गया था। अनवरत साधना ने कर्म के पाश ढीले कर दिये थे, अविचल तप ने कर्म की शृंखलाओं को जर्जर कर दिया था। प्रभु का रोम-रोम एक अदृप्त आत्मज्योति का सिंहासन बना हुआ था। चारों ओर एक प्रभामण्डल उनके भावी तीर्थंकरत्व का तूर्यनाद कर रहा था।

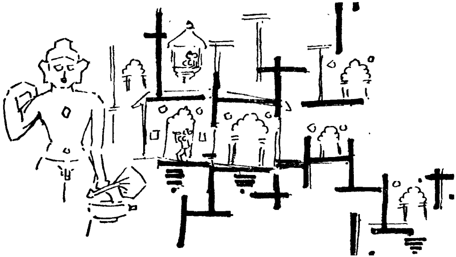
निराकुल साधना उनकी उपलब्धि थी। भूख-प्यास का प्रश्न कैसा, आत्मामृत ने ही उन्हें तृप्त कर दिया था। एकाग्रता ने सारी आकुलता शान्त कर दी थी। शीत स्वय ठिठुर गया था, ग्रीष्म विदग्ध था, पावस आतंकित था; उनकी तपस्या के आगे सब नतमस्तक थे। दुर्लघ्य पर्वत, अधियारी गुफाएँ, निर्जन नदी-तट, बीहड़ वन, सुनसान श्मसान—उनकी साधना-भूमियाँ थी, स्वानुभूति के आगे ये सब अकिंचन थे, पराभूत थे। दुस्सह साधना ने हिंसा और भयावहता को ठण्डा कर दिया था। सब प्राणी निष्कण्टक और निराकुल थे।

बियावान जंगलों में सिंह दहाड़ते थे, हाथी चिघाडते थे, विषधर फूत्कार भरते थे, किन्तु उनकी अपराजिता वीतरागता के सम्मुख सब घुटने टेक रहे थे। वर्द्धमान महावीर की तपश्चर्या अनवरत थी, अविचल थी, अखण्ड थी।

आत्मदर्शन, देश-दर्शन

महाश्रमण गाँव-गाँव घूम रहे थे। आत्मदर्शन के साथ देश-दर्शन, जीवन-दर्शन के साथ लोक-दर्शन, उनकी चर्या का अग बन गया था। वैशाली ही नही विश्व की अन्तरात्मा का साक्षात्कार करते वे विचरण कर रहे थे। उनके लिए आहार साधन, साधना मुख्य थी; विहार गौण, आत्मा की खोज प्रमुख थी। साधना मे नींद कैसी ? सो वे रात्रि के अन्तिम प्रहर में कभी कुछ क्षणों के लिए विश्राम करते। सूरज के साथ उठते और लोकहृदय को प्रकाश बाँटते। उनके ज्ञान की धूप से चेतना की फसलें पकती और लोग आत्मकल्याण के धनधान्य से समृद्ध बनते।

कठोर तप, आत्मानुसधान, आत्मपरिष्कार, आत्मोदय ही उनके देश-देशान्तर में पर्यटन का



साधु आगम की आँख है, उसमे होकर शताब्दियाँ तत्त्व दर्शन करती हैं ;
वह न हो तो जीवन की अधुनातन व्याख्या कौन करे ?

प्रमुख प्रयोजन था । साधु क्यों घूमता है ? एक जगह टिककर क्यों नहीं बैठ जाता ? मोहभंग के लिए, आसक्ति तोड़ने के लिए । सारी धरती उसकी है, यह खण्ड, यह द्वीप, यह भवन, यह खेत उसका नहीं है, वह सर्वत्र है और कही नही है; सारे वैभव उसके है, एक भी वैभव उसका नही है । इस सार्वभौम समत्व में ही उसकी महान् विजय है । साधु आगम की आँख है, उसमें होकर शताब्दियाँ तत्त्व-दर्शन करती हैं । वह न हो तो जीवन की व्याख्या कौन करे ? वह न हो तो ताज़गी के सारे स्रोत सूख जाएँ, केवल मठा रह जाए, ज्ञान के नवनीत का प्रसाद कौन दे ? असल में श्रमण होता है जीवन-तथ्यों का युगानुरूप व्याख्याकार, आचार और विचार दोनों बिम्ब-प्रतिबिम्ब मुद्रा मे उसमें युगपद् जीवित रहते है । विहार से उसकी वीतरागता परिवर्द्धित होती है, मजती है और निष्कामता निखरती है ।

वर्द्धमान महावीर ग्राम-ग्राम, नगर-नगर घूम रहे थे । वन तपोवन बने हुए थे । पशुओं तक में परस्पर विश्वास और प्रीति प्रकट हुए थे । कहीं

कोई संताप न था, सब एक निष्कण्टक स्थिति में जी रहे थे। सिंह-मृग, मयूर-सर्प, बिल्ली-मूषक जैसे अन्तर्विरोधी भी शान्त थे, वीतरागता के प्रभाव ने उनकी स्वाभाविक शत्रुता को समाप्त कर दिया था। सर्वत्र प्रेम, शान्ति और सौख्य व्याप्त थे ।

चातक को स्वाति

वत्सदेश में चन्दन के बन्धन खुल गये थे, उज्जयिनी में स्थाणु रुद्र की आँखें खुल गयी थी, उसने वीतरागता की शरण ग्रहण कर ली थी। इस तरह महावीर जहाँ भी जाते वहाँ की भूमि निरापद, निराकुल हो जाती । लोगों में आत्मोदय की एक अबूझ पिपासा जन्म लेती, उनके प्राणों के चातक को स्वाति का जल मिल जाता । चारों दिशाओं में करुणा का शासन था । वर्द्धमान महावीर कैवल्य-पद की ओर अनवरत बढ़ रहे थे । उनकी साधना में एक दिव्य ऊर्जा उन्मेष लेने लगी थी ।

अविच्छिन्न तपश्चर्या ने वर्द्धमान महावीर को कर्म-निर्जरा की ओर बढ़ा दिया । ज्ञान की विचक्षण आभा उनके मुखमण्डल पर विकीर्ण थी। लगता था

जैसे जीवन की समस्त श्रेष्ठताओं ने वहाँ रूप ग्रहण कर लिया हो। तपश्चर्या की छैनी से कर्म की निविड़ शृंखलाएँ कट रही थीं, धीरे-धीरे वीतरागता का एक तेजस् पुंज उभर रहा था। पाषाण में से प्रतिमा और पटल पर भव्य चित्राकृति की भाँति कैवल्य की अलौकिक कान्ति उद्भासित थी। एक अदम्य परमज्योति का उदय निकट था, ज्ञान की उषःवेला उपस्थित थी। आत्मा की सुबह प्रभातियों से गूंजना चाहती थीं।

अजलि के जल की तरह कर्म का कलुष चुक रहा था। भावी सूर्योदय की प्रखर आभा में कर्म के काले मेघ बिखर रहे थे। तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि में कर्म की मलिनता जल रही थी, आत्मा के आवरण शिथिल थे, वीतरागता और भेद-विज्ञान की प्रक्रिया तीव्र थी। निर्मलता करवट ले रही थी, कर्म डूब रहे थे।

कैवल्य का क्रान्ति-पुरुष

चारों ओर स्वर्ण-जैसी दीप्ति फैली हुई थी, अनन्त सौख्य की अनुपम अनुभूति से कण-कण

मुस्करा रहा था । क्षणभंगुरता में शाश्वतता और अमरत्व अंगड़ाई ले रहे थे । अनित्यता में से एक अक्षय्य पद आभासित था । मरण की सत्ता छिन्न-भिन्न थी, जीवन्तता लहरा रही थी । चरम सिद्धि के लिए वर्द्धमान महावीर में एक चिन्मय रूप जाग रहा था, उनमें एक परम आह्लाद, एक अनन्त सुषमा, एक अजस्र ज्ञान-निर्झर अपनी श्रेष्ठतम अभिव्यक्ति खोज रहा था । सब ओर एक अपूर्व आध्यात्मिक छटा छायी हुई थी । अखण्ड ज्योति, अपरिमित प्रकाश, अनन्त आलोक नृत्य कर रहे थे, अनुज्ज्वलता, अशुभ्रता और मलिनता पलायन के द्वार ढूँढ़ रही थीं । वर्तमान निःस्तब्ध था, एक परमोज्ज्वल भविष्य आमन्त्रित था, कर्मकलुषित भूत विसर्जित था । उज्ज्वलता, शुभ्रता, वैमल्य, निर्मलता, करुणा, वीतरागता और समत्व की धातुएँ द्रवीभूत थी और कवल्य के साचे मे शुभाकार ढूँढ़ रही थी । क्षण की सत्ता में विलक्षणता उत्पन्न थी । आत्मा के महान् शिल्पी ने अन्तिम स्पर्श के लिए वीतरागता की तूलिका को उज्ज्वलता के रंगों में डुबो लिया था । वर्द्धमान महावीर की सौम्य मुद्रा में सर्वज्ञता तरंगायित थो, कितना वेभवशाली

था वह क्षण, वह अन्तर्मुहूर्त, वह विजय-सुख, अनन्त जीवन की अनन्त आनन्दानुभूति की वह वेला। कर्मशत्रुओं ने आत्मार्पण कर दिया था, अर्हन्तत्व-प्रकट था, नश्वरता अब कहाँ ? ज्योतिर्धर वर्द्धमान महावीर ने परमज्योति का मुकुट पहिन लिया था। ज्ञान-प्राची का कैवल्य-पुत्र प्रतीक्षित था। मुक्ति के पदचाप सुनायी दे रहे थे। वर्द्धमान महावीर कैवल्य के कान्ति-पुरुष की भाँति वहाँ आसीन थे; आस्रव निःस्तब्ध, संवर सक्रिय, निर्जरा अपने अन्तिम चरण में। आत्मा की अनन्त तेजस्विता ज्ञान के उदयाचल की ओर से झाँक रही थी। योगेश्वर ऋषभ की अक्षुण्ण परम्परा में महावीर का परमज्योतिर्धर धर्मचक्र अपने संपूर्ण प्रभाव के साथ प्रवर्तित था।

ऋजुकूला का तट

आत्मशुद्धि के अन्तिम चरण में विहार करते हुए वर्द्धमान महावीर विहार प्रान्त पहुँचे, विहार का तत्कालीन वैभव कौन कहे ? जृम्भिका गाँव का सुखद अंचल, पक्षियों का सुमधुर कलरव, सार्थवाहों

की हलचल, वनस्पतियों का वासन्ती वैभव, चतुर्दिक् अपार समृद्धि। ऋजुकूला के अनुपम तट पर जहाँ गाय-सिंह एक साथ पानी पीते थे, वर्द्धमान महावीर ने प्रतिमायोग धारण कर लिया। ऋजुकूला के तट पर वे एक दुर्लभ ऋजुता की तलाश में आत्मलीन हो गये।

एक शुभ तिथि

मोक्ष-भवन की सीढ़ियाँ उनके पादार्पण से पवित्र हो रही थी। क्षपक श्रेणी ने भेद-विज्ञान की गति को बढ़ा दिया था। दुर्द्धर्ष मोहनीय चकनाचूर होने लगा, बारहवी मंजिल पर पाँव रखते-रखते चारित्र मोहनीय की प्रकृतियाँ पराजित होने लगी। आत्मा विशुद्ध वीतरागता की ओर अग्रसर होने लगी। उस पर से कर्मावरण क्रमशः उतरने लगे, आत्मा के इस अनावरण से ज्ञान-ज्योति की प्रखर रश्मियाँ यत्र-तत्र आभा बिखेरने लगी। तेरहवी मंजिल पर परिणामों की शुक्लता और सघन हुई और बारह वर्ष पाँच मास पन्द्रह दिन की दुर्द्धर तपश्चर्या के अनन्तर वर्द्धमान महावीर ने चार

घातिया कर्मों का क्षय कर लिया, अब वे पूर्ण अर्हन्त थे। यह शुभ तिथि वैशाख शुक्ल दशमी थी। तीसरे प्रहर का आरम्भ था, दोपहरी ने ढलना शुरू किया था। वर्द्धमान महावीर का आत्म-सूर्य उदय की ओर और सूर्य अस्ताचल की ओर पाँव उठाये था। आत्म-सूर्य जिसका न कभी अस्त, न कभी क्षय, एक बार उगा कि उगा। अर्हन्त महावीर अपनी इस जीवन्मुक्त अवस्था में एक अतुल आत्म-वैभव से युक्त थे, सर्वथा अनिर्वचनीय, शब्दातीत। वे ऋजुकूला के तट-बन्ध पर निर्बन्ध, सघन, प्रखर प्रभा-पुज की भाँति उपस्थित थे।

अर्हन्तत्व के पार्श्व में तीर्थंकरत्व भी प्रकट हुआ। सौधर्म इन्द्र को यह शुभ सूचना मिली तो उसके हर्ष की सीमा न रही। उसने अपने कोषाध्यक्ष कुबेर को बुलाया और एक विशाल सभा-मण्डप की रचना का आदेश दिया। इन्द्र की अभिलाषा थी कि तीर्थंकर महावीर का कल्याणकारी उपदेश संसार के संतप्त-संत्रस्त समस्त प्राणियों को सुनने को मिले इसलिए उसने एक सुविधा-संपन्न व्याख्यान-मंच और विशाल-मण्डप बनाने की स्पष्ट योजना

कुबेर को दी। कुबेर ने ऋजुकूला के तट पर समवशरण की अविलम्ब रचना की। वह उल्लसित था और उसे अपना वैभव अकिंचन लग रहा था।

मानस्तम्भ : मान स्तम्भित

ऋजुकूला के तट पर एक विशाल भव्य सभामण्डप बनाया गया। उसकी शोभा अप्रतिम और सजावट अद्वितीय थी। धरती उसे अपने वक्षस्थरा पर देख सुख-विभोर थी, उसका रोम-रोम इस अनुपम कृति पर गर्व कर रहा था। सभामण्डप में कोटि-कोटि द्वार थे, प्रत्येक द्वार पर एक मानस्तम्भ था। यह अनुशासन और विनय का प्रतीत था। मण्डप के हृदय-भाग में एक सुन्दर वेदिका बनी हुई थी, यह गन्धकुटी थी। इस पर एक रत्नजटित सिहासन प्रतिष्ठित था, जिस पर एक मनोज्ञ कमल बना हुआ था। गन्धकुटी के चारों ओर बारह विशाल कक्ष थे जिनमें देव-देवी, साधु-साध्वी, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी इत्यादि सबके बैठने और सुनने की समुचित व्यवस्था थी। समवशरण आत्मानुशासन के साथ ही अनुशासन भी था, सब अपनी

प्रवृत्तियों में विनम्र और शान्त थे । कहीं कोई आकुलता नहीं थी । इसके अतिरिक्त आगन्तुकों के लिए कई मनोहर स्थान बने हुए थे । समवशरण स्थापत्य शिल्प का एक अलौकिक उदाहरण था । सब ओर सब तरह की सुव्यवस्था थी; समवशरण का अपना एक सुव्यवस्थित, साधन-संपन्न और श्रवण-सुलभ सभामण्डप था ।

समवशरण समुद्र, जनसमूह सरिताएँ

कुबेर ने सभा-मण्डप बनाया और देवों ने दुन्दुभिनाद किया । दुन्दुभि ने समवशरण के शुभ संवाद को सब ओर फैला दिया । देखते-देखते ऋजुकूला का तट तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की दिव्यध्वनि का परम तीर्थ बन गया । तीर्थंकर का उपदेश सुनने के लिए समवशरण के समुद्र में जन-समूह की सरिताएँ आ-आकर मिलने लगी । इन्द्र भी अपने विशाल परिवार के साथ आ पहुँचा । उसने तीर्थंकर के कैवल्य का महान् उत्सव किया, उनके दर्शन किये, वन्दना की, बड़े भक्तिभाव से उनकी अर्चना की और समवशरण के नियमन में डूब गया ।

सभामण्डप में आत्म और ज्ञानज्योतियाँ तो जगमगा रही थीं साथ ही वहाँ की प्रकाश-व्यवस्था भी बड़ी सुन्दर थी। रात और दिन का भेद मिट गया था; उजियारा, उजियारा, और केवल उजियारा। चारों ओर प्रकाश की दगदगाहट थी और एक निराकुल शान्ति थी। जो भी प्राणी समवशरण में आया था, उसके परिणाम निर्मल थे। उसके हृदय से वैर, द्वेष, क्रोध, हिंसा, प्रतिहिंसा इत्यादि दूषित भाव बिदा ले चुके थे। सारे अन्तर्विरोध मिटे हुए थे; चीता-हिरण, गाय-सिंह, बिडाल-मूषक बड़े निर्मल भाव से पास-पास बैठे तीर्थंकर की दिव्य वाणी की उत्कण्ठापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे।

उद्ग्रीव प्रजा

असंख्य श्रोता प्रभु की ओर अपलक थे। उनके मनःप्राण उस अमृत की प्रतीक्षा कर रहे थे जिसे यह पृथ्वी तेईस बार पी चुकी थी। तीर्थंकर महावीर की सौम्य मुख-मुद्रा सबको दिखायी दे रही थी, उसकी पार्श्वभूमियों पर स्फटिक-सी शुभ्रता फैली थी। तीर्थंकर की मुखाभा ही उनकी दिव्य भाषा

थी; भला, बताइये ऐसी अनन्य वीतरागता और सर्वज्ञता को कौन-सी भाषा चाहिये ? उनकी मुद्रा एक वचनातीत और भाषातीत भूमिका पर प्रस्थित थी। सब उस विशाल समवशरण में उनकी अनन्त करुणा, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त ऊर्जा में नहाये एक अपूर्व उज्ज्वलता में उपस्थित थे। चातक की भाँति उनका मन ज्ञान-स्वाति की उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहा था। सारी प्रजा उन्हें उद्ग्रीव देख रही थी, कोई अघाता न था।

किन्तु यह क्या

समवशरण में आये हुए विद्वज्जन, देवगण और अन्य-अन्य मनुष्य बड़े पशोपेस में थे। वे सोच रहे थे कि तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर अपने तपस्या-काल में मौन रहे, उन्होंने कोई देशना नहीं दी, अब वे पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की भाँति अवश्य उपदेश देंगे, सर्वभूतहितार्थ उनकी दिव्यध्वनि का लाभ हम सबको अवश्य मिलेगा; किन्तु यह क्या, सारा दिन बीत गया, सारी रात ढल गयी, और तीर्थंकर महावीर की दिव्यवाणी प्रकट नहीं हुई। श्रोताओं

ने मन को समझाया, संभवतः अभी विलम्ब है । इस बीच सभामण्डप में कुछ नये लोग आये, कुछ आये हुए गये और कुछ भव्य प्राणी बने रहे, किन्तु दूसरा दिन भी आया, रात भी आयी तथापि प्रतीक्षित दिव्यध्वनि नही खिरी ।

तट उदास हो गया

इस तरह दिन-पर-दिन बीतते गये, किन्तु तीर्थंकर की वाणी मुखरित नहीं हुई । उपस्थितों का मन गिरने लगा, उन्हें खिन्नता हुई । कुछ दिनों बाद तीर्थंकर महावीर का अन्य स्थान के लिए आकाश-विहार हो गया । ऋजुकूला का तट उदास हो गया, उसका जल व्यथित हो उठा, कुबेर ने वहाँ से समवशरण समेट लिया और जहां तीर्थंकर महावीर ठहरे वहाँ उसकी पुन:रचना कर दी । यहाँ भी वही हुआ । दिव्यध्वनि नही हुई । अन्ततः समवशरण विर्सजित हुआ और तीर्थंकर महावीर अन्यत्र विहार कर गये ।

अवश्य, किन्तु कब ?

सब लोग स्तब्ध थे, असमंजस में थे, किन्तु स्पष्ट समाधान किसी के पास न था । सब

जानते थे तीर्थंकर महावीर मूक केवली नहीं हैं उनका उपदेश अवश्य होगा, किन्तु कब होगा, इसे कोई नहीं जान सका था ।

ज्ञान की गंगा रुद्ध

विहार करते-करते तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर राजगृही के निकट विपुलाचल पर आये, यहाँ भी कुबेर ने एक अलौकिक विशाल सभामण्डप की रचना की । असख्य श्रोता यहाँ भी उपस्थित हुए किन्तु गतिरोध ज्यों-का-त्यों बना रहा । तीर्थंकर महावीर की वाणी अप्रकट बनी रही । अन्ततः समवशरण के व्यवस्थापक सौधर्म इन्द्र का ध्यान इस ओर गया, उसने कारणों की सूक्ष्म-गहन मीमांसा की । सारी परिस्थिति को जाँचा-पड़ताला । अवधिज्ञान से पता लगा कि 'सम्यक् और यथार्थ ज्ञानी के अभाव मे ज्ञान की गगा का उद्‌गम रुद्ध है ।' सच्चे जिज्ञासु और सन्निष्ठ-विशुद्ध ग्राहक के अभाव में ज्ञान कैसा ? सही जिज्ञासा के संदर्भ में ही तो ज्ञान की गरिमा और सार्थकता है । समवशरण में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो तीर्थंकर

महावीर की वाणी को सुने-समझे और उसकी ठीक-ठीक अनुभूति एकत्रितों को दे सके। इन्द्र मन-ही-मन सोचने लगा कि तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के ज्ञान की गूढ़ता को जानकर उसका यथास्थिति संवहन करने वाली शक्ति समवशरण में जब तक नही आती, यह गतिरोध बना रहेगा। स्वाभाविक है, एकत्रित श्रोता सुनेंगे, उनके मन मे विविध जिज्ञासाएँ होंगी, इनका समाधान कौन करेगा ? इस प्रकार योग्य संवादी के अभाव में तीर्थंकर की वाणी मुखरित नहीं होगी।

प्रतिभा है, श्रद्धा नहीं

उसने अपने ज्ञानबल से यह भी जान लिया कि इन्द्रभूति गौतम ही तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की दिव्य वाणी को ग्रहण करने का सच्चा सामर्थ्य रखते हैं, किन्तु द्विविधा यह है कि वह प्रखर प्रतिभा का धनी तो है, पर तीर्थंकर महावीर पर उसकी श्रद्धा नही है। वह अतत्त्वदर्शी है। उसका मन अज्ञान में लिप्त है। प्रतिस्पर्द्धा और शास्त्रार्थ में उसें आनन्द आता है, उसमें अपार मेधा है, किन्तु मिथ्यात्व की भावना प्रबल है। वह पात्र है, किन्तु उसमें निर्मल नीर की जगह अपकारक पंक हैं; उसमें योग्यता है,

श्रद्धा अनुपस्थित है । परन्तु उसे यदि किसी तरह तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के समवशरण में लाया जा सके तो उसका कायाकल्प हो सकता है, उसमें सोया हुआ सम्यक्त्व जाग सकता है । इन्द्र को उत्तर मिल गया । उसकी मनोव्यथा कुछ हल्की हुई । वह अपापानगरी से ब्राह्मण इन्द्रभूति को लाने की युक्ति सोचने लगा । अन्त में उसने एक बूढ़े बटुक का वेश धारण किया और इन्द्रभूति के आश्रम की ओर चल दिया ।

इन्द्रभूति : इन्द्र-सी विभूति

इन्द्रभूति इन्द्र नहीं था, किन्तु उसका अपना ठाठ था । वह वेद-वेदांगों का अपूर्वपाठी ब्राह्मण था, उसके मार्गदर्शन में ५०० उत्तम शिष्य अनुसंधान में लगे हुए थे । ज्ञान-चंक्रमण के इर्दगिर्द शिष्यवर्ग बैठा था और क्रमशः अपनी जिज्ञासाओं का समाधान कर रहा था । इन्द्रभूति की विद्वत्ता विख्यात थी ।

आप यहां किस ?

बटुक स्वाध्याय-चंक्रमण के निकट पहुँचा और उसने ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम को प्रणाम किया । वह वहीं एक तट पर बैठ गया । इन्द्रभूति ने

अनुभव किया कि आगन्तुक वृद्ध में ज्ञान के लिए अबुझ पिपासा है और वह बहुत नम्र तथा शालीन है। वह उसके अनुशासन से बड़ा प्रभावित हुआ। ऋचाओं की अधूरी व्याख्या पूर्ण करते हुए इन्द्रभूति ने बटुक से पूछा—"आप यहाँ किस आशय से आये हैं, महामति !"

एक श्लोक

इन्द्र ने बड़े शालीन भाव से कहा—"महानुभाव, आपकी ज्ञान-गाथा बरसों से सुन रखी है। वैसे भी मिलने की इच्छा थी, किन्तु आज तो एक समस्या का समाधान लेने उपस्थित हुआ हूँ। मेरे गुरु वर्द्धमान महावीर ने मुझे एक श्लोक दिया था, उसकी विशद समीक्षा भी की थी; किन्तु वार्द्धक्य के कारण विस्मरण हो गया है, आप यदि उसकी गूढ़ताओं को एक बार भी समझा सकें तो बड़ा अनुग्रह होगा। मैं इसी आशा से यहाँ आया हूँ। श्लोक इस प्रकार है—

"त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं
जीवषट्काय लेश्याः।
पंचान्येचास्तिकाया व्रतसमिति
गतिज्ञानचारित्रभेदाः॥
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः
प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः।
प्रत्येति श्रद्धाति स्पृशति च
मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः॥"

प्रश्न चिन्हों की नागफनी

श्लोक सुनकर इन्द्रभूति गौतम बड़ा असमंजस में पड़ गया, श्लोक की गूढ़ताएँ उसे समझमें नहीं आयीं। क्षणभर को उसे लगा जैसे उसके ज्ञान का दीप अचानक बुझ गया है, उसे अपने उथलेपन का बोध हुआ तथापि अपने अहंकार को संभालकर उसने सारी विषम स्थिति की समीक्षा की ओर अपना अगला कदम निश्चित किया। 'षट् द्रव्य', 'नवपदार्थ', 'षट् लेश्या', 'पंचास्तिकाय', 'व्रत', 'समिति' इत्यादि प्रश्नचिह्नों की नागफनी से उसकी कच्ची मेधा घिर गयी। गुत्थियों की लम्बी कतार के बीच विकल इन्द्रभूति गौतम व्यथित था। वह सोचने लगा—"मैंने जीवन-भर ज्ञान को ओस की तरह चाटा, किन्तु यह सब कभी नहीं सुना। अर्हद्दर्शन का ककहरा भी मैं नही जानता। मैं इस बटुक को यह सब कैसे बताऊँ? यह मुझे विद्वान् मानकर मेरे पास आया है, इसके सामने यदि मैं अपनी अज्ञानता व्यक्त करता हूँ, तो मेरे उपस्थित शिष्यवर्ग पर इसका कैसा प्रभाव पड़ेगा? उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह बटुक के गुरु के पास जाएगा

और उसे शास्त्रार्थ में पराजित करेगा । अपनी भद्द के भय से उसने बटुक से कहा–"महामति, तुम्हारा श्लोक बड़ा उत्तम है, किन्तु इसकी समीक्षा और विश्लेषण से पूर्व तुम्हारे गुरु से मिलने की उत्कट इच्छा है, क्या तुम मुझे वहाँ तक ले चलोगे ? मैं उनसे इस संबन्ध में खुलकर विमर्श करूँगा ।"

इन्द्र यही चाहता था । अन्धे को क्या चाहिये, चक्षु; इन्द्र का लक्ष्य पूरा हो गया । उसने मन की खुशी मुख पर नहीं आने दी और इन्द्रभूति गौतम को साथ लेकर तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के समवशरण की ओर पग उठाये ।

श्रेणिक : भक्तों का भक्त

समवशरण का वैभव अनिर्वचनीय था । राजा श्रेणिक आरंभिक परिधि पर खड़े आगन्तुकों की अगवानी कर रहे थे । बज्जि और लिच्छवि-प्रमुखों ने उन्हें घेर रखा था । चारों ओर उल्लास की फुहारें बरस रही थीं । राजा श्रेणिक ने उन सबकी भाव-भीनी अभ्यर्थना की और यथास्थान बैठने का निवेदन किया । कुछ वरिष्ठ प्रमुखों ने कहा–

"महाराज, आप बड़े भाग्यशाली हैं कि तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर जैसी युगविभूति की भक्ति कर रहे हैं। आप उनके परम भक्त हैं।" इस पर राजा श्रेणिक बड़े संकोच में पड़े, उन्होंने बड़ी विनम्रता से हर्षविभोर चित्त से कहा—"ऐसा मत कहो भाई, मैं तो प्रभु के भक्तों का भक्त हूँ। आप सबकी अभ्यर्थना में उपस्थित रहने का यह क्षण ही भाग्यशाली क्षण है। मेरा मन उल्लास-निमग्न है। आपकी अगवानी मेरा अहोभाग्य है।" कहते-कहते राजा श्रेणिक की आँखों में हर्षाश्रु छलक आये और उन्हें कण्ठावरोध हो आया।

मानस्तम्भ : प्रकाश-स्तम्भ

ऐसे निर्मल वातावरण में इन्द्रभूति गौतम ने तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के समवशरण में प्रवेश किया। मानस्तम्भ देखते ही मन का सारा कलुष धुल गया। स्तम्भ देखकर इन्द्रभूति स्तम्भित रह गया, उसका सारा अहंकार ओले-सा गल गया। मानस्तम्भ उसके जीवन-समुद्र का प्रकाश-स्तम्भ बन गया। सूरज की किरणें जैसे ओस की बूंदों को

सोख लेती हैं, ज्ञान की आलोक-रश्मियों ने गौतम के तम को गला दिया। अभिमानी मन विनम्रता में झुक गया, द्रवीभूत हो गया।

गौतम—गततम

गन्धकुटी में विराजमान तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की मंगल मुद्रा को वह निर्निमेष देख रहा था, उसका ज्ञान-मद चूर हो गया। वह क्षण भर में गतगर्व हो गया। उसका हृदय श्रद्धा से जगमगा उठा। आया था शास्त्रार्थ करने, किन्तु शास्त्र के सभी शस्त्र ठण्डे पड़ गये। वीतरागता ने उसके मन के कालुष्य को बुहार दिया। दम्भ और मिथ्या का लेश भी वहाँ न रहा। मन ने सारे वसन उतार दिये; तन विवश था, वह पहिले ही मन का भृत्य बन चुका था। सच है, तन से पहिले जिनका मन तपस्वी बनता है, वे ही सच्चे तपस्वी हैं। जिनका तन तपस्वी हो और मन घर-गिरस्ती मे उलझा हो; वे कपटी हैं, तपस्वी नहीं। इन्द्रभूति ने दिगम्बरी दीक्षा ग्रहण कर ली। उसे मनःपर्यय हुआ। इधर गौतम के तम के ताले टूटे, उधर मन्द्र मेघगर्जन

जैसी दिव्यध्वनि श्रोताओं की मन-धरती को सींचने लगी । प्रतीक्षा सुफल हुई । गुणधर ने तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की गुणवत्ता को झेलना प्रारम्भ कर दिया । सच्ची पात्रता के आगे ज्ञान का अखूट खजाना खुल गया । मानवता के लिए मगल और कल्याण के ये क्षण अविस्मरणीय थे, सब ओर शान्ति, सुख और निराकुलता ।

श्रावण में खुले श्रवण

श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की दिव्यध्वनि प्रस्फुटित हुई । केवलज्ञान होने पर भी योग्य पात्र के अभाव में ६६ दिनो तक तीर्थंकर देशना नही हुई । देशना का यह शुभ दिन 'वीर शासन' की स्थापना का दिन था । श्रावण के दिन विश्व के श्रवण तीर्थंकर की मगल वाणी से प्रपूरित थे । ज्ञानामृत की इस अपूर्व वर्षा ने उपस्थितों के मन-श्रवण और मनश्चक्षु उघाड़ दिये । तबसे सदियों तक श्रावण कृष्ण प्रतिपदा वर्षारम्भ के रूप में मनायी जाती रही ।

न खण्डन, न मण्डन

तीर्थकर वर्द्धमान महावीर के उपदेश सरल थे; आडम्बर और औपचारिकताओं से विरक्त । वे जनता की भाषा में जनहित के लिए होते थे—सुगम, सुबोध, सुलभ । मनुष्य तो मनुष्य, उनके ध्वनि-संकेतों से सभी प्राणियों का कल्याण हुआ, अन्धे और बधिर भी लाभान्वित हुए । उपदेशों में तत्त्वदर्शन तो था ही, सृष्टिरचना और समाजिक तथा वैयक्तिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया था । तत्कालीन धर्म; जीवन और जगत् की जिन गूढताओं के कोई समाधान नहीं ढूंढ पाये थे, तीर्थंकर महावीर की दिव्य वाणी ने उन्हें सापेक्षता के व्यापक पटल पर समीक्षित किया था । वहाँ न खण्डन था, न मण्डन; थी सत्य तक सीधी पहुँच । न आडम्बर, न ढकोसला; न कोई दुराव, न छल, था आत्मा की अनन्त ऊर्जा से साक्षात्कार का सीधा-सच्चा मोक्ष-मार्ग । सच्ची रुचि, सच्ची पहिचान और सच्चा आचरण, यही भगवान महावीर के उपदेशों का सार था । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को बड़े सीधे-सादे ढंग से समकालिक

संदर्भों में प्रस्तुत किया गया था । हिंसा के हर पहलू और संभावना पर विचार किया गया था । तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के सदुपदेश इतने अकाट्य और मंगलकारी थे कि दूर-दूर से आये प्राणी सिर झुकाये मंत्रमुग्ध सुन रहे थे । सर्वत्र निर्विघ्नता थी ।

सब दीक्षित : मेघ, अग्नि, वायु

जन्मजात ब्राह्मण इन्द्रभूति गौतम दीक्षा तो पहिले ही ले चुका था, अब उसका मन ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठा । अब वहाँ, कहीं भी अज्ञानान्ध शेष न था, हर कोना ज्ञान की जगमगाहट से परिपूर्ण था । इन्द्रभूति जैसे प्रकाण्ड विद्वान् के दीक्षा लेने के कारण उसके दो विद्वान् भाई अग्नि-भूति और वायुभूति भी समवशरण में आये और उन्होंने भी अपने सैकड़ों शिष्योत्तमों के साथ जिन-दीक्षा ग्रहण कर ली । ज्ञान और आनन्द की अपूर्व लहर चतुर्दिक् फैल गयी ।

एक भिन्न विश्व

तीर्थंकर की उपकारी वाणी ने प्राणियों को

उनके भीतर जाकर छुआ । उनके हृदयों को झक-झोर दिया, उनकी चिन्तन-शैली को आमूलाग्र बदल दिया । करुणा की परमज्योति से उनके मनःप्राण जाग गये और रोम-रोम झूम गया, सहसा उन्हें ऐसी अनुभूति हुई मानो वे एक भिन्न विश्व में पहुँच गये हों । धर्म का जो प्राकृत, स्वाभाविक, विशुद्ध उपकारी और मंगलमय रूप जनता-जनार्दन के सम्मुख आया था, उससे भाव सरल हो गये और वृत्तियाँ संयत हो गयीं । उसे जीवन में पहिली बार धर्म की व्यापक लोकोपयोगिता का बोध हुआ । वे यह जानकर अचम्भे में थे कि वही मनुष्य जो कल तक शोषण कर रहा था, एक शोषण-रहित समाज-रचना कर रहा है । तीर्थंकर महावीर द्वारा प्रतिपादित समत्व या साम्य की भावना पर लोग मुग्ध थे ।

समत्व की असंख्य भावनाएं

लोगों को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वे आपस में स्नेह, विश्वास, सहयोग और सुख के साथ जी सकते हैं; अन्तर्विरोधों की आँच उनका

कुछ नहीं बिगाड़ सकती । मतभेद और वैषम्य के होते हुए भी उनमें समत्व की असंख्य संभावनाएँ सन्निहित हैं । तीर्थंकर महावीर की निःसीम करुणा ने लोकमानस को क्रान्ति के एक अभिनव मोड़ पर ला खड़ा किया, एक ऐसे प्रस्थान-बिन्दु पर जहाँ से आगे शोषण, वैर, निन्दा, और हिंसा को कोई स्थान नहीं है । आत्म-स्वातन्त्र्य के तथ्य को तीर्थंकर की दिव्यवाणी ने इस सुगमता से प्रस्तुत किया कि मन के सारे अंधियारे टूट गये और सब ओर उज्ज्वलता फैल गयी । होतृवर्ग के प्रतिशोधी मन भी करुणा से ओतप्रोत हो गये । उनमें अहिंसा का अतल सिन्धु लहराने लगा । सच्चे आत्मधर्म ने धर्म के विकृत रूप को उघाड़ दिया । सच्चाई पर से झूठ का मुलम्मा हट गया, लोकहृदय एक रचनात्मक क्रान्ति के लिए उद्यत हो उठा । सामाजिक और सांस्कृतिक पुरुषार्थ ने हिंसा की चुनौतियों को स्वीकार किया और एक व्यापक करुणा के भाव से उनका प्रतिकार करने की प्रतिज्ञा की । सत्य और अहिंसा की अपराजिता शक्तियों को बल मिला और इस तरह चारों ओर सर्वोदय की संभावनाएँ

स्पष्ट होने लगी । समत्व की देशना ने वैषम्य की धुँध हटा दी । प्राणिमात्र के लिए मनुष्य के हृदय-द्वार खुल गये ।

नयी लिपि, नये प्रतीकाक्षर

कुछ समय बाद तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर राजगृही से अन्यत्र विहार कर गये । तीर्थंकर का समवशरण एक चलता-फिरता विद्यानगर था, वह जहाँ भी जाता प्रजा का कल्याण होता और एक प्रांजल, सापेक्ष, विशुद्ध ज्ञान की लहर व्याप्त हो जाती । वे जहाँ भी ठहरते वहाँ करुणा और मैत्री की दुन्दुभि बजने लगती, लोकमानस उनके अभि-नन्दन के लिए पलक-पाँवडे बिछा देता । विश्व को अनुभव हुआ कि इतने उपकारक क्षण उसके जीवन मे कभी नही आये । भारत की अन्तरात्मा का कलुष धुल गया, इतिहास की कालिमा धुल गयी । उज्ज्व-लता की कलम से अहिसा और सत्य के पृष्ठों पर भारत का इतिहास लिखने का सूत्रपात हुआ । जीवन की भाषा ही बदल गयी; अब तक लोग हिंसा, असत्य, स्तेय, परिग्रह, व्यभिचार, वैर, प्रतिरोध

की लिपि में लिख रहे थे; किन्तु तीर्थंकर महावीर ने उन्हें एक नयी रचनात्मक लिपि दी, जिसके प्रतीकाक्षर थे–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, समत्व, मैत्री और परस्पर विश्वास । अनेकान्त की वर्णमाला ने लोगों के विद्वेष शान्त कर दिये और सहअस्तित्व का एक सुखद वातावरण तैयार कर दिया । दिव्यध्वनि ने लोकहृदय को एक अपूर्व दिव्यता प्रदान की और उसके ज्ञान-चक्षु खोल दिये । अज्ञान का निबिड़ मिट गया । धर्म का रूढ़िग्रस्त रूप समाप्त हुआ । जनता को संदेहों और भ्रान्तियों से छुटकारा मिला । तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर एक स्थान से दूसरे स्थान पर विहार कर रहे थे । उनका लोककल्याणकारी समवशरण गाँव-गाँव, नगर-नगर चल रहा था; जो भी उसके संपर्क में आ रहा था, उसे स्पष्ट राह मिल रही थी; उसके भ्रम खुल रहे थे और उसमें आत्मज्योति सुलग रही थी । तम हट गया था, ज्योति उमग रही थी । तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर लोकभाषा में हित-मित देशना देते संपूर्ण भारत का परिव्रजन कर रहे थे । उत्तर से दक्षिण, पूर्व से पश्चिम चारों दिशाएँ उनकी देशना के आलोक में प्रकाशित थीं ।

सब ओर उनकी देशना-दुन्दुभि गूँज रही थी, लोग युगों की मानसिक दासता से मुक्त होने की आनन्दानुभूति में निमग्न थे। रूढ़ियों का नाम न था, दुराग्रह और एकान्त शान्त थे, जैनधर्म के अन्तस्तल से विश्वधर्म और मानवधर्म का दिव्यसगीत प्रकट हो रहा था, एक ऐसा मधुर सगीत जो प्राणिमात्र को अपने कोमल और उदार भुजबन्ध में समेट रहा था। जैनधर्म प्राणिमात्र को गले लगानेवाला धर्म रहा है, वहाँ है वाणी में स्याद्वाद, आत्मा में समयसार और आचरण मे परमधर्म अहिसा। यही जैनधर्म प्रजा में पुरुषार्थ जगा रहा था, जातपाँत की झूठी मर्यादाएँ तोड़ रहा था, यज्ञ-याग के दूषित उपहास समाप्त कर रहा था और धर्म की विकृतियों को स्पष्ट चुनौती दे रहा था। उसने 'आत्मवतसर्वभूतेषु' के महान् उद्घोष के तले आत्माराधना के सरल-सहज मार्ग खोल दिये थे। लोगों को अहिसा की महत्ता समझ में आ गयी थी। वे समझ रहे थे कि प्रेम अहिसा का ही नामान्तर है।

सम्यक्त्व का स्पष्ट बोध

भारत की मानसिक और सांस्कृतिक पंगुता, लगभग समाप्त थी। स्वस्थ चिन्तन की सुमधुर

सुरभित बयार प्रवाहित थी । लोक-जीवन और लोकशासन पावनता का अनुभव करने लगे थे, उनमें उत्तरोत्तर निर्विकारता आ रही थी । अज्ञान, अधर्म, अन्याय और अत्याचार के झण्डे उखड़ रहे थे, आत्मस्वातन्त्र्य की भावना ने लोगों के मनोबल को बढ़ा दिया था । वे प्रबुद्ध थे, जागृत थे; उन्हें चिन्तन, दर्शन और आचरण के सम्यक्त्व का स्पष्ट बोध हुआ था । उन्हें तीर्थंकर महावीर की देशना ने एक स्पष्ट मन्त्र दिया था 'अज्ञान, मोह और मिथ्या ने आत्मा को जकड़ रखा है, अन्यथा वह मुक्त है ।' इस मन्त्र ने आत्मतंत्र को तो सुदृढ़ बनाया ही लोकतंत्र को भी प्रखर बनाया । जैनधर्म के उन्मेष ने राष्ट्रीय एकता को दृढ़ किया । अनेकान्त ने लोगों के वैषम्य को दूर किया । राष्ट्रीयता की भावना के गर्भ में विश्वबन्धुत्व पहिले ही पल रहा था; भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ की धर्म-परम्पराएँ अन्तर्राष्ट्रीय बन्धुत्व का समर्थन करती हैं । जैनधर्म ने विश्व-बन्धुत्व और विश्वमैत्री की भावनाओं का प्रसार किया । तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की देशनाओं ने विश्वशान्ति की संभावनाओं को स्पष्ट किया ।

उनका उपदेश प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी था। जैनधर्म का सहारा लेकर जनता में बहिर्मुख शौर्य के साथ ही अन्तर्मुख शौर्य भी प्रकट हुआ। इससे स्पष्ट हो गया कि जैनधर्म कायरों का धर्म नहीं है, वह रणबाँकुरों का धर्म है। जो जीवन-संग्राम से भागते हैं, वे जैनधर्म के अनुयायी नहीं हो सकते अपितु वे ही जैनधर्म के समर्थ अनुयायी हैं जो जीवन में जूझते हैं और फिर आध्यात्मिक उपलब्धियों की ओर अपना सशक्त कदम उठाते हैं। अहिंसा कायरों का धर्म नहीं है, वह शूरवीरों का परमधर्म है। उसका पालन पलायनवादी नहीं करता, बल्कि वह करता है जो निर्भीक है और हर संघर्ष के लिए प्रतिपल जागा हुआ है। लोगों के मन पर जैनधर्म की यह बात जम गयी कि हिंसा आत्मा को गिराती है, वह पतन की राह है और अहिंसा उसे जीवन के उदात्त शिखरों की ओर ले जाती है। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के समवशरण ने सारे देश में नये प्राण फूँक दिये और लोकचिन्तन का जड़मूल से कायाकल्प कर दिया।

निरन्तर उनतीस वर्ष, तीन मास और चौबीस दिनों तक तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर मुनियों,

आर्यिकाओं; श्रावकों, श्राविकाओं के साथ विहार करते रहे। वे कमरिग्राम, कोल्लाग, मोराक, राजगृही, नालन्दा, चम्पा, श्रावस्ती, वैशाली, मगध के अनेक ग्राम-नगर, कोशाम्बी, मिथिला, ऋजुकूला, विपुलाचल, विदेह, पांचाल, कुरु, हस्तिनापुर, साकेत, काशी, मथुरा, नन्दिग्राम होते हुए पावानगर पहुँचे। अपने विहारकाल में उन्होंने जैनधर्म की मूल मान्यताओं को लोकभाषा में समझाया। उन्होंने अनेकान्त के माध्यम से जनगणमन में ज्ञान का, स्नेह का, परस्पर विश्वास का, साधना का प्रकाश फैला दिया। वे जहाँ भी गये जागृति की एक लहर-सी दौड़ गयी ; धर्म का एक युक्तिसंगत रूप लोगों को समझ में आने लगा। उन्हें अनुभव हुआ कि संसार का प्रत्येक प्राणी सम्मान्य है। यज्ञ का सही अर्थ लोगों की समझ में आया। यज्ञ याने अज्ञान का विसर्जन, सर्वभूतहित अहंकार का विसर्जन, अन्धकार का विसर्जन और प्रकाश की शोध का उपक्रम। यह बात भी व्यर्थ और निर्मूल सिद्ध हो गयी कि पशुओं को यज्ञ के लिए ही बनाया गया है; उनका अस्तित्व बलिदान के लिए ही है। अहिंसा और

करुणा की भावना ने लोगों के मन को छू लिया और वे स्नेह और बन्धुत्व की महत्ता को समझने लगे ।

परिनिर्वाण

अन्त में तीर्थंकर पावानगर में ठहर गये, उन्होंने विहार से उपराम ले लिया । पावा में उन्होंने योग-निरोधपूर्वक स्वाति की उदयावस्था में कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में निर्वाण प्राप्त किया ।

लोकातीत उल्लास

एक ज्योति उठ गयी, कई ज्योतियों ने जन्म ले लिया । उनकी ज्ञानज्योति ने कइयों के जीवन को जगमगा दिया । भेदविज्ञान की चरमोपलब्धि का वह अपूर्व क्षण था; जैनधर्म के प्रतिपादनों का वह सर्वोच्च शिखर था । प्रभु के परिनिर्वाण से चारों ओर एक शून्यता-सी छा गयी । उन्होंने मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया और समग्र मानवता एक महान् विभूति के चरणस्पर्श से वंचित हो गयी । एक दिए की लौ

ऊपर को उठी; किन्तु गाँव-गाँव, नगर-नगर, धरती का कण-कण कई दीपों से जगमगा उठा। देवों ने भावभीने उत्सव मनाये, मनुष्यों ने मंगलाचार किये, प्राणों ने पर्व मनाया। धरती-गगन सब एक लोकातीत उल्लास में डूब गये।

प्रकाश-पर्व

उस समय पावा की शोभा देखते ही बनती थी। ६ लिच्छवी, ६ मल्ल और १८ काशी-कोशल गणराजे तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के परिनिर्वाण के समय उपस्थित थे। इन्द्रभूति गौतम पड़ोस के एक गाँव में गये हुए थे। उन्हें भी उसी दिन कैवल्य-लक्ष्मी उपलब्ध हुई। इस तरह यह दिन प्रकाश-पर्व के रूप मे मनाया जाने लगा। रूढ़ियों ने भले ही तथ्यों को ढंक लिया हो किन्तु दिवाली महावीर की परिनिर्वाण-वेला के रूप में सदियों से मनायी जाती है।

पुरानेपन की जगह नूतनता

भगवान् महावीर का तो यह मुक्तिपर्व था ही लोगों ने इसे व्यावहारिक मुक्तिपर्व के रूप में मनाना

आम्रभ कर दिया । व्यापारी इसे हिसाब-मुक्ति के रूप में, गृहस्थी इसे अस्वच्छता-मुक्ति की तरह घर का सारा कूड़ा-करकट निकालकर और समाज इसे निर्वेर याने शत्रुतामुक्ति के रूप में मनाता है । नगर और घर की सारी अशोभा, असौन्दर्य और कुरूपता मिट जाती है और पुरानेपन की जगह एक नूतनता दिखायी देने लगती है । इसे नूतन वर्षारम्भ के रूप में मनाया जाता है । इस तरह जीवन से शिथिलता और प्रमाद को बिदा कर लोग नयी स्फूर्ति से अपने-अपने काम मे लग जाते हैं ।

गहरे बन्धुत्व का अनुभव

महावीर-निर्वाण-दिवस शताब्दियों से एक महान् पर्व के रूप में मनाया जाता रहा है । यही एक ऐसा पर्व है जिसे संपूर्ण राष्ट्र किसी न किसी रूप में एकरूपता के साथ मनाता है । जैनमात्र इसे बड़ी उमंग और उल्लास के साथ सपन्न करता है । कुछ इसे व्रतानुष्ठान और कुछ इसे एक सांस्कृतिक उल्लास के साथ मनाते हैं; किन्तु सभी अपने घर-द्वार सजाते हैं, बन्दनवारें बाँधते हैं, अल्पनाएँ सजाते

है, दीप-पंक्तियाँ सज्जित करते हैं, निर्वाण-पूजन करते हैं, लाड़ू चढ़ाते हैं और क्षमावाणी-पर्व की तरह इस दिन भी अपनी भावना की खाता-बही ठीक कर लेते हैं। सब स्नेह के एक विशाल तल पर एक गहरे बन्धुत्व का अनुभव करते हैं, कोई वैरभाव नहीं रखता, एक गहरी मैत्री, ताज़गी, स्फूर्ति, चारों ओर फैल जाती है। लगभग ढाई हजार वर्षों से मनाया जा रहा यह पर्व आज भी उतना ही उल्लास और उतनी ही प्रेरणा लिये हुए है।

अमावस्या की पराजय

दिवाली एक ऐसा पर्व है जिसके चारों ओर एक निर्मल आध्यात्मिक आभा छायी हुई है; यह एक ऐसी प्रातःस्मरणीय महान् लोकविभूति की आराधना-अर्चना और पुण्य-स्मरण का पर्व है, जिसने संसार पर मँडराती हिंसा, असत्य और परिग्रह की कलुष-अमावस्या को हराया था और लोकशक्ति के आँगन में विवेक के दीयों की एक अबुझ पंक्ति संजो दी थी, जो युगों से ऐसी अमा-वस्याओं से जूझती आ रही है और आज भी अपरा-

जित है । प्रकाश की राह पर आज भी उसके वे वन्दनीय चरणचिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं ।

प्रणम्यों के प्रणम्य

इसके साथ ही दिवाली एक आध्यात्मिक प्रतीक-पर्व भी है। हर दीया एक प्रतीक है; अन्धकार की हार का, रोशनी की जीत का; जड़ की पराजय का, चेतन की विजय का; दीया काया है, तो आत्मा और प्रज्वलन साधना । इस तरह इस प्रतीक में तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर का संपूर्ण समवशरण स्पन्दित है, उनकी सारी देशना दीप-शिखा पर बैठी सन्मार्ग पर चलने का निमन्त्रण दे रही है। दीप छोटा है, किन्तु उसकी पृष्ठभूमि विशाल है । वह एक वैशालिक की जीवन-साधना का ज्वलन्त प्रतीक है; आइये, हम प्रणम्यों के प्रणम्य तीर्थंकर महावीर की वन्दना करें, जो आज भी वर्द्धवान, सिंहभूम, वीर-भूम, पावा और नामालूम कितने ही पुण्यस्थलों पर प्रेरणा का केन्द्र बना हुआ है । उनकी देशना आज भी विश्व गगन में गूंज रही है ।

প্রসংগ

प्रसंग



अनेकान्त : बीच की मंजिल

कुमार वर्द्धमान आरम्भ से ही विचारशील थे। अनेकान्त की भावी भूमिका उनके व्यक्तित्व में रूप ग्रहण करने लगी थी। बोलते, उठते, सोते, बैठते, खेलते सर्वत्र उनके व्यवहार में अनेकान्त की उदार

विनम्रता और वैचारिक सहिष्णुता सहज ही प्रतिबिम्बित थी। वे किसी भी वस्तु, व्यक्ति, मत या स्थिति को निरपेक्ष स्वीकार नहीं कर पाते थे। मन कुछ ऐसा बन गया था कि तर्कसंगति के अभाव में वे कोई काम ही नहीं करते थे। उनका जीवन एक अहिंसक अनाग्रह का तीर्थ बन गया था। वे न तो किसी बात पर अड़ते थे और न ही किसी संदेह अथवा भ्रान्ति को स्वीकार करते थे। स्पष्ट चिन्तन के लिए वस्तु के विविध पहलुओं का अध्ययन उन्हें महत्त्वपूर्ण दिखायी देता था; अपने कुमार साथियों तक को वे सरल, सहज, विनत और संयत शब्दों में अनेकान्त की वैज्ञानिक प्रक्रिया को समझाया करते थे।

एक बार उनके कुमार साथी उन्हें ढूंढ़ते-ढूंढ़ते माता त्रिशला के निकट जा पहुँचे। माता त्रिशला नन्द्यावर्त्त की तल-मंजिल पर अपने गार्हस्थिक कर्तव्यों में निरत थी। उनमें सबके लिए अपार प्रीति और वात्सल्य था। बच्चों की तो वे प्राण थीं। उनके साथ कुण्डग्राम के बच्चे खूब घुल-मिल गये थे। कोई भी बच्चा हो, माता त्रिशला के पास वह

इस तरह निःसंकोच पहुँचता था जैसे वे ही उसकी असल माता हों । वे जगन्माता थीं ।

वर्द्धमान नन्द्यावर्त्त की बीच की मंजिल की खिड़की में झुके ससार की असारता देख रहे थे । वे इस समय संसार की व्यर्थता, निस्सारता और क्षणभंगुरता में खोये हुए थे । माता त्रिशला ने बहुधा उन्हें यहीं देखा था, अतः उन्होंने कहा–"वर्द्धमान ऊपर हैं ।"

कुमार साथी तत्काल ऊपर जा पहुँचे । नन्द्यावर्त्त कोई छोटा-मोटा भवन तो था नहीं । सातवीं मंजिल तक पहुँचते-पहुँचते सब हाँफ गये । यहाँ सिद्धार्थ अपने दैनिक कार्य निबटा रहे थे । बच्चों ने देखा उनकी आँखों का केन्द्र वर्द्धमान वहाँ भी नहीं हैं । वे बड़े खिन्न हुए । स्वभावतः उन्होंने पूछा–"दादा, भैया कहाँ हैं ?" सिद्धार्थ जानते थे, वर्द्धमान नीचे कहीं होंगे ,अतः उन्होंने सहज ही कहा–"नीचे ।"

अब बालक बड़े पसोपेश में हो गये । सब कुछ पेचीदा हो गया । 'माता त्रिशला कहती हैं, भैया वर्द्धमान ऊपर हैं, दादा कहते हैं, वे नीचे हैं । यह

सच है कि दोनों झूठ नहीं बोलते । अब क्या करें ?' सब किंकर्त्तव्यविमूढ़ । अन्ततः सबने एक-एक मंजिल छान मारने का इरादा किया । वर्द्धमान चौथी मंजिल की एक खिड़की में ध्यानलीन थे । खिड़की का मंच उनका आसन था और वे वीतराग मुद्रा में उपस्थित थे । लग रहा था जैसे कोई राजसी परिधानवती वीतरागता वहाँ आसीन हो । उन्हें पता ही नहीं चला कि कुमार साथी वहाँ आये हुए हैं । कुमार हैरान थे । अन्त में जब कुमार वर्द्धमान की आध्यात्मिक एकाग्रता टूटी तो उन्होंने अपने साथियों की स्नेहस्निग्ध अगवानी की, उनकी कुशल-क्षेम पूछी ।

बालकों ने अपना असमंजस बताया । उन्होंने कहा–"माँ कहती है, भैया ऊपर हैं, दादा कहते हैं, भैया नीचे हैं; बड़ा असमंजस है, क्या यह कहना सही है ?"

कुमार वर्द्धमान ने खिड़की के मंच पर अपने साथियों को बुला लिया और एक कौए की ओर इंगित कर पूछा–"क्यों भाई कौआ कैसा है, कौन-

सा रंग है उसका ?" सबने एक स्वर में कहा– "काला ।"

इस पर वर्द्धमान ने कहा–"वह काला है, इतना ही नहीं लाल भी है, सफेद भी है ।" कुमार कहने लगे–"लाल कहाँ है, सफेद तो कहीं है ही नहीं, हाथ कंगन को आरसी कैसी, सब कुछ सामने ही तो है; काला, केवल काला और कुछ नहीं ।"

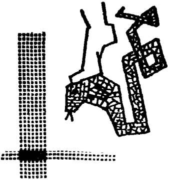
इस पर वर्द्धमान ने बड़ी गंभीरता से कहा– "यही तो हमारी सबसे बड़ी भूल है कि हम किसी वस्तु को उसकी सर्वांगता में नहीं देखते, उसके सभी पहलुओं को नहीं खोजते । यह कौआ जो काला दिखायी देता है, इसका रुधिर लाल है और अस्थियाँ श्वेत । रुधिर की अपेक्षा यह लाल है, अस्थियों की अपेक्षा श्वेत है, और देह की अपेक्षा काला है ।"

तब कुमार वर्द्धमान ने कहा– "यही बात पूज्य माँ और पूजनीय दादा के सम्बन्ध में है । उन दोनों के कथन सही हैं । वैषम्य में भी समता है, विरोध में भी समन्वय है । वैज्ञानिक चिन्तन ही इस वैभव को उद्‌घाटित कर सकता है । देखो न, पूज्य माँ ने

कहा, 'मैं ऊपर हूँ', बिलकुल ठीक है, उनकी अपेक्षा से मैं ऊपर चौथी मंजिल पर हूँ, पूज्य दादा ने कहा 'मैं नीचे हूँ' उनका यह कथन भी सर्वथा सही है, उनकी अपेक्षा से मैं नीचे चौथी मंजिल पर हूँ। इस तरह एक ही वस्तु में कई स्थितियाँ एक साथ रह सकती हैं। यह अनिश्चय या संदेह की स्थिति नहीं है; सत्य के उद्घाटन की वैज्ञानिक प्रक्रिया है। सापेक्षता हमारी कई समस्याओं का समाधान है। इसे हम 'स्याद्वाद' भी कह सकते हैं।"

साथियों को आज मणियों की खदान ही मिल गयी थी। वे प्रफुल्ल चित्त थे। उनकी सारी थकान मिट गयी थी। नन्द्यावर्त्त के चारों ओर का आनन्द वे बुद्धि और हृदय की हथेलियों से जल्दी-जल्दी समेट रहे थे।

इस तरह कुमार वर्द्धमान छोटी-छोटी बातों में से जीवन के गम्भीर तथ्यों को अपने साथियों तक पहुँचाया करते थे। □



सर्प का मिटा दर्प

वर्द्धमान पराक्रम में अद्वितीय थे । अत्यन्त ऊर्जस्वी, शक्ति-संपन्न । उनकी वीरता की कहानियाँ वैशाली मे कौटुम्बिक उदाहरण बनी हुई थी । सभी उनकी वीरता का बड़े गौरव से बखान करते थे ।

एक बार सौधर्मेन्द्र की सभा में पराक्रम और वीरता का प्रसंग छिडा । तरह-तरह की चर्चाएँ हुई, अन्त में इस बात पर सहमति हो गयी कि वर्तमान में वैशाली के वर्द्धमान की तुलना में और कोई इतना ओजवान और तेजस्वी नहीं है । इस समय उन-सा बलशाली कोई अन्य नही है ।

संगम नामक देव को इस बात पर भरोसा नहीं हुआ । उसका मन सशय में तैरता रहा । वह सोचने लगा, यह संभव है कि वर्द्धमान आगे चलकर अनन्त बल और शौर्य के धनी निकलें, किन्तु अभी तो बालक



उसे लगा जैसे उसके फन पर सुमेरु उतर रहा है

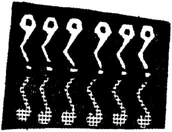
हैं। अभी उनमें वह बल-वैभव कैसे हो सकता है ? अतः उसने उनके बल-परीक्षण का विचार किया। वह कुण्डग्राम की ओर चल दिया। वह उस वनप्रदेश में पहुँचा जहाँ कुमार वर्द्धमान अपने कुमार साथियों के साथ वृक्ष पर चढ़ने-उतरने का कोई खेल खेल रहे थे, सब टिटकारी-किलकारी भर रहे थे; बाल्य-काल की उन्मुक्तता, मस्ती और फक्कड़पन में चूर।

संगम ने अच्छा अवसर देखा। उसने विक्रिया से एक विकराल साँप का रूप धारण कर लिया और उस विशाल वृक्ष-मूल से लिपट गया। उसकी जीभें लीलने को लपलपा रही थीं, फन विष के आवेश में फूत्कार रहे थे। दिशाएँ विषाक्त थीं, पक्षी भय में संत्रस्त थे। सर्प फन ताने आक्रमण की मुद्रा में सन्नद्ध था। जब साथियों ने देखा तो वे सिर से पैर तक काँप गये, सबको अपने-अपने प्राणों की पड़ गयी। कोई किसी शाखा से चिपटा, कोई किसी से। कुछ भय में कूद भागे। कुमार वर्द्धमान ने भी स्थिति की गंभीरता को समझा, किन्तु वे घबराये नहीं। वे बड़ी अचंचल, शान्त और निश्चल मुद्रा में वृक्ष पर से सीधे सर्प के फन पर उतरने लगे। जैसे ही उनका बलिष्ठ पाँव सर्प के फन पर पड़ा, वह बिलख उठा, तिलमिला गया। उसे लगा जैसे सुमेरु उसके फन

पर उतर रहा है, उस बोझ और बल को वह संभाल नहीं सका। वर्द्धमान उसके फन पर इस सहजता से उतरे जैसे खेल से लौटे माता त्रिशला की गोद में जा रहे हों। उनके मन में न क्रोध था, न आकुलता; चित्त निराकुल, मन शान्त। सर्प का सारा बल ठिठक कर रह गया। वर्द्धमान का अवतरण ठीक वैसा ही था जैसे अंधकार पर प्रकाश। संगम की जीभें शान्त हो गयीं; फूत्कारें टूट गयीं। उसे लगा जैसे किसी ने उसकी दाढ़ों का विष एकबारगी खींच लिया हो। वह नितान्त निर्विष हो गया। उसकी वक्रता सरल हो गयी। वह विनत हो उठा। कुछ ही क्षणों में सर्पराज के स्थान पर एक सुन्दर देव-देह वहाँ दिखायी दी, जो चरणों पर झुकी हुई थी और क्षमा की मुद्रा में प्रस्तुत थी। साथियों ने देखा अब सब कुछ निरापद है, वे प्रसन्न थे।

वर्द्धमान की आँखों में समत्व का सिन्धु लहरा रहा था और संगम उस महावीरत्व की बन्दना में अपलक लीन था।

युग के सर्प को आज 'महावीर' के उस बलिष्ठ; किन्तु करुणा-संपन्न चरण की आवश्यकता है। □



प्रश्न बने उत्तर

वर्द्धमान बाल्यकाल से ही असाधारण प्रतिभा-संपन्न थे। उनकी कुशाग्रता ग्राम-ग्रामान्तरों तक चर्चा का विषय बन गयी थी। वैशाली धन्य थी, उसके भाग्य खुल गये थे, उसका कोई उपनगर या ग्राम शेष न था जहाँ तीर्थंकर वर्द्धमान की कीर्ति न पहुँची हो। सब के मन को उनकी मनीषा ने मोह

लिया था। यह वय और इतनी विलक्षण मनीषा !! लोग आश्चर्य-चकित थे। कुण्डग्राम वैशाली-वधू के कानों का कुण्डल बन गया था। निर्लिप्तता ने प्रभु की प्रज्ञा को और प्रभावी बना दिया था। संसार तो उन्हें छू नहीं पाया था। जैसे कमल की पाँखुरी पर ओस की बूंद अलिप्त होती है, वर्द्धमान की प्रज्ञा भी वैसी ही अनासक्त और निर्लिप्त थी; आठों याम चौकस, सजग और आत्मलीन। उनकी महिमा कुछ ऐसी थी कि जिज्ञासा के होठ तक पहुँचने से पूर्व ही उसे समाधान मिल जाता था। प्रश्न उत्तर बन जाते थे, शंकाएँ समाधान बन जाती थीं, अमावस्या पूनम बन जाती थी। चाक्षुष वन्दना ही मन को निष्पंक-निष्कलुष बना देती थी।

लोग फूले नहीं समाते थे कि वैशाली का एक बालक सरस्वती की आँखों का आंजन बना हुआ है जिसके दर्शन मात्र से अन्तर्नयन उघड जाते हैं और अन्तर्मन की सारी धुँध साफ हो जाती है।

एक बार संजय और विजय नामक दो चारण मुनियों के चित्त में कुछ तात्त्विक जिज्ञासाएँ उठीं।

जिज्ञासाएँ गहन थीं, उनका निवारण कठिन था। प्रश्न सूक्ष्म थे, उनके उत्तर किसी साधारण व्यक्ति के वश के नहीं थे। सोचते-सोचते मुनियों ने कुण्ड-ग्राम जाने का निश्चय किया। तय किया कि वहाँ वर्द्धमान से इन शंकाओं को दूर किया जाए।

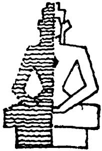
वर्द्धमान शैशव से ही मति-श्रुति-संपन्न थे। उनकी चपलता शान्त थी। जगत् के इस अनिवार्य कोलाहल में भी उन्हें आत्मा का संगीत स्पष्ट सुनायी देता था। जंजालों मे भी वे प्रांजल बने हुए थे, वे ज्ञान की गहराइयों से विभूषित थे। उनकी प्रज्ञा तलस्पर्शिनी थी। प्रतिभा इतनी कि उसका सुदूर स्पर्श ही हृदय की आँख और मन की गाँठ खोल देता था। वही हुआ। मुनियों ने बालक को दूर से देखा, वे अपने सखाओं में विनोदमग्न थे। उन्मुक्त, एकाग्र, निमग्न।

उनका स्वभाव था कि जो भी काम करते अच्छा करते, जानकर करते और पूरा करते। जहाँ आत्मा का खेल उन्हें गभीरता से खेलना था, वहाँ भला वे

इस जागतिक खेल को असफलता और बिना किसी सूझबूझ के कैसे खेलते ? तर्कसंगत होने में उन्हें बड़ा सुख मिलता था । मुनियों ने जब उन्हें देखा तो वे अचम्भे में पड़ गये । उन्हे लगा, जैसे कई सूर्य एक साथ पृथ्वी पर उतर आय हैं । उनकी ऋद्धियाँ ठगी-सी रह गयीं । आन्तर आराधना ने उनके मन की सारी गांठें खोल दीं । उन्हें क्षण-भर मे ऐसा लगा जैसे जन्मजन्मान्तर का निविड़ तिमिर मिट गया है और एक नयी भोर आ उपस्थित हुई है । जिज्ञासाएँ स्वयमेव तृप्त हो गयीं, कही कुछ पूछने को नहीं रहा । मन बुहर गया, और भीतर अनन्त प्रकाश व्याप गया । मन में एक सन्मति ने जन्म ले लिया । लगा, सब कुछ शुद्ध-प्रबुद्ध, शान्त-कान्त ।

ऐसे क्रान्तदर्शी बालक को वे क्या कहते ? उनके होठों पर 'सन्मति' शब्द स्वयमेव आ गया । तबसे वर्द्धमान का एक नाम "सन्मति" हुआ ।

☐



केवल एक राग, वीतराग

नन्द्यावर्त की रंगशाला श्रोताओं से खचाखच भरी थी, कहीं तिल रखने को स्थान न था। राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला अतिथियों की अगवानी में व्यस्त थे। रंगशाला में संगीत का कार्यक्रम था, त्रिशला आयोजिका थीं। उन्होंने

नगर में आये कन्दर्प और सोम संगीताचार्यों को आमंत्रित किया था। ये दोनों गन्धर्व अपनी उदात्त संगीत कला के लिए देशदेशान्तरों में विख्यात थे।

सिद्धार्थ स्वयं कलाप्रेमी थे। उनकी राजसभा में कलाकारों का अपूर्व सम्मान था। कुण्डग्राम में आनेवाला कोई भी कलाकार अपुरस्कृत नहीं लौटता था। उनकी उदारता और कलाभिरुचि वैशाली अंचल के प्रायः सभी कलानुरागी जानते थे। सोम और कन्दर्प के नगरागमन से वे बड़े उल्लसित थे। कुमार वर्द्धमान की रुचि संगीत के एक विशेष संदर्भ में थी, वे कला का उतना ही उपयोग चाहते थे जितने से उनके भीतर सुषुप्त आत्म-पुरुषार्थ जाग सके। शान्तरस को नृत्य और गान-कलाओं में संयोजित करने में उनकी अभिरुचि थी।

रंगशाला में कलाप्रेमी नागरिक जमा थे। रंगपीठ सजा हुआ था। नेपथ्य से पार्श्वसंगीत की धुनें बज रही थीं। श्रोतावर्ग आ-जा रहे थे। कार्यक्रम के आरम्भ होने में अभी विलम्ब था। रंगशीर्ष पर कन्दर्प और सोम बैठे थे। उनके आसपास बहुविध

वाद्य रखे थे । संगीत का सम्मोहक वातावरण बना हुआ था । अगली पंक्तियों में कुमार अपने साथियों के साथ बैठे थे और कार्यक्रम की बड़ी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहे थे । रानी त्रिशला नगर की संभ्रान्त महिलाओं को समुचित स्थान दे रही थी ।

रानी त्रिशला ने कन्दर्प और सोम का परिचय दिया और कार्यक्रम आरम्भ हुआ । सबसे पहिले कन्दर्प प्रस्तुत हुए । कन्दर्प भोग-रागों के विशेषज्ञ थे, सोम योग के; एक ससार में, एक संसार से परे; एक उलझानेवाला, एक सुलझानेवाला; एक प्रवृत्ति, एक निवृत्ति । दोनों एक दूसरे के पूरक थे । कन्दर्प की कला मे रसराज शृंगार का निवास था और सोम की कला में रस-सम्राट् शान्त का । एक जीवन का आरम्भ, एक जीवन का स्वस्थ-सुखद उपसंहार । रंगशाला मे शान्ति थी । कन्दर्प भोग-राग अलाप रहे थे । पृष्ठभूमि पर आवश्यक सगीत चल रहा था । श्रोता मन्त्रमुग्ध थे । लगता था जैसे रंगशाला में कन्दर्प के अलावा और कोई नही है । साँस लेने तक की आवाज नहीं होती थी । श्रोता स्तब्ध थे, सबकुछ

कल्पनातीत था । संगीत के सम्मोहन को कौन नहीं जानता ? सब कन्दर्प की ओर देख रहे थे किन्तु माता त्रिशला का ध्यान वर्द्धमान पर था । वर्द्धमान अन्यमनस्क थे । उनका चित्त विकल था । उन्हें कन्दर्प के सगीत में कोई रस नही था । वे जाना चाहते थे; किन्तु सभा का शिष्टाचार उन्हें रोक रहा था । रात्रि का एक पहर बीत चुका था, सब रस-विभोर थे । राजा सिद्धार्थ के लिए वर्द्धमान की यह विरक्ति नयी नहीं थी । वे शान्त और निराग्रही थे । त्रिशला आयोजन को स्थगित करना चाहती थीं, किन्तु वर्द्धमान को आचार्य सोम का स्मरण हो आया और उन्होंने माता से उनके कार्यक्रम का अनुरोध किया । त्रिशला, जो संपूर्ण कार्यक्रम की आयोजिका थीं, बड़ी अन्यमनस्क मुद्रा में मंच पर पहुँचीं और उन्होंने वर्द्धमान का मन रखने के लिए आचार्य सोम से अपना संगीत आरम्भ करने का निवेदन किया ।

सोम योग-रागों के मर्मज्ञ थे । उन्होंने जीवन भर शान्तरस की साधना की थी, उसे अपने अलापों

में उँड़ेला था। निर्वेद को संगीत की उदात्त राग-रागिनियों में इस खूबी के साथ संजोने में उस समय उनका कोई समकक्ष न था। आत्मा का संगीत उन्होंने सुना था और उसे ही सप्तसुरों में निबद्ध किया था। सोम संगीतज्ञ तो थे ही, मनोविज्ञानी भी थे, उन्होंने वर्द्धमान की अन्यमनस्कता को देख लिया था। वे जान गये थे कि कुमार का चित्त जगत् से उदासीन है, वह आत्मसंगीत से ही तृप्त होगा। उन्होंने खूब विभोरता में गाया। श्रोताओं को शान्तरस में डुबो दिया, रस छा गया, रंगशाला की छटा निखर गयी। नन्द्यावर्त्त का यह भाग तपोवन में बदल गया। सोम के संगीत ने वर्द्धमान के सुषुप्त सौम्य को जगा दिया, वे स्वयं में डूब गये। सवेरा कब हुआ, किसी ने नहीं जाना; किन्तु त्रिशला अशान्त थीं। उनके चित्त की आकुलता बढ़ी हुई थी। उनके सामने पुत्र-वियोग नाच रहा था। वे विह्‌वल थीं, सोम का संगीत वे सुन ही नहीं पा रही थीं। उन्हें आत्मा के अन्वेषक वर्द्धमान की मनःस्थिति का कोई छोर ही नहीं मिल रहा था। त्रिशला की मनःस्थिति त्रिशूला हो गयी थी; राज्यवैभव का शूल, मातृत्व का शूल, योगेश्वर वर्द्धमान का

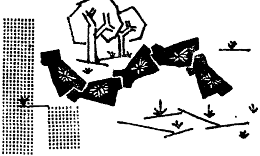
शूल। उनका मन व्यथा की शूली चढ़ा हुआ था। इधर सोम के शीतल-सौम्य संगीत ने वर्द्धमान की आत्म-पिपासा को तृप्त किया था। उनके रोम-रोम से एक ही सुर निनादित था—"केवल एक राग है, वीतराग, इसके आगे संसार के सारे राग फीके हैं।'

मातृत्व सावधान था, वह वर्द्धमान को विविध प्रयोगों में बाँधना चाहता था, किन्तु वर्द्धमान महावीर निर्बन्ध थे, वे किसी भी पाश में नहीं आते थे।

वे दूसरों के पाश शिथिल करने इस भूखण्ड पर आये थे।

कन्दर्प और सोम को बिदा किया गया। कुमार की इच्छा थी कि आचार्य सोम को रोक लिया जाए, किन्तु माता त्रिशला ने उन्हें व्यस्त बताकर भविष्य में पुनः पधारने के आग्रह के साथ बिदा कर दिया।

□



धरती पर खिले कमल

आज सबेरे से ही वेणुग्राम (करुनाडु) की धरती सुन्दरता की खान बनी हुई थी। लगता था जैसे उसकी डगर-डगर पर मखमली कालीन बिछा दिये गये हैं। उसकी सारी कर्कशता मिट गयी थी, करुणा और सुकुमारता से उसका कण-कण भीग उठा था। संपूर्ण वातावरण किसी दिव्य निर्मलता में नहाया-सा लग रहा था। उद्धत धूलिकण शान्त और विनम्र थे, तिनकों की तीखी नोकें झुक गयी थीं। सारी वसुधा तीर्थंकर महावीर की वन्दना में उद्ग्रीव थी।

श्रमण महावीर आहार के निमित्त निकले थे। जिस भी दिशा में उनके चरण उठते, वहाँ की कलुषता और कर्कशता असीम करुणा और मृदुता में बदल जाती, उनके वरद चरण कमल-कोष बने हुए थे।

जहाँ भी वे गाँव की धरती का स्पर्श करते, कमल की मनोज्ञ पंक्तियाँ विकस उठतीं और दिग्दिगन्त उनके सौरभ से महक उठते ।

वहीं कुछ बालक खेल में तनमन से डूबे थे । अकस्मात् उन्हें दूर कुछ कमलाकृतियाँ दिखलायी दीं । उनकी एकाग्रता टूटी और वे उस ओर चंचल हो उठे । बालक स्वभाव से ही चपलता, चुनौती और चाह के धनी होते हैं, बात की बात में अंकित चिह्नो तक पहुँचने की होड़ ठन गयी, देखे कौन पहिले पहुँचता है वहाँ ?

गाँव के लोगों ने जब बालकों को इस तरह सुधबुध खोये दौड़ते देखा, तब उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा । वे पूछने लगे–"तुम सब इस तरह कहाँ दौड़े जाते हो ?" उठी हुई अँगुलियों ने उत्तर दिया–"देखते नही कमल के वे सुरभित पुष्प, हम सबमें उन्हें पाने की होड़ ठनी हुई है ।"

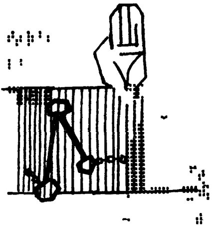
ग्रामवासियों ने उन चिह्नों को देखा तो अवाक्-स्तब्ध रह गये । कितने भव्य, कितने सुन्दर, कितने महान् । मानवजाति का संपूर्ण इतिहास वन्दना के

लिए नतमस्तक हो उठा, उसने युगों का संचित कलुष इस एक पल की विलक्षण वन्दना में धो लिया।

ऐसे थे तीर्थंकर महावीर के पाद-पद्म, जिनकी अतुल सुषमा को धरती ने अपने धूलिकणों की सुघड़ अँजलियों में सजो लिया था, जिनके अनन्त सौन्दर्य को धारण कर वह धन्य हो उठी थी। कैसी अविस्मरणीय सुन्दरता और सुघराई थी उन पादांकनों की कि चंचल मति बालक भी भक्ति में बावरे बने उन्हें उठाने ललक उठे थे। ग्रामजन यह देखकर अचभे मे थे कि उन बालकों को चरण-सौरभ से सुवासित धूलिकणों पर मंडराती भ्रमर-पंक्तियों को हटाने मे बड़ा परिश्रम करना पड़ रहा था।

सचमुच ये मनुजता के विश्ववन्द्य चरण-चिह्न थे, साकार करुणा के पाद-पद्म थे, मूर्तिमती मृदुता के भव्य अंकन थे, मुक्ति-वधू की हथेली के जीवन्त अलंकरण थे, सौन्दर्य के सजीव प्रतीक थे; प्रतिपल प्रणम्य, अनुक्षण वन्द्य!!

□



बडियो क शुभाशीष

कुसुम्भ वक्षो स परिवर्ष्टित व सदश की कौशाम्बी नारी की शोभा अपूव था । चारो ओर सुन्दर बाग बगीच शीशम क वन पछियो की कण मधर चहक शिल्प कृत क साक्षी प्रासाद और दवालय राजमाग व्यवस्थित और भव्य हाट बाजार प्रचर सपदाओ स भरपूर घरो म विपुल धन धान्य । सब सुखी सवत्र नीरोग न कोई आतक न कोई भय । धरती न हर रग की ओढनी पहिन ली थी और वह कौशाम्बी क सीमान्त पर दिगम्बर

श्रमण वर्द्धमान की अगवानी के लिए पलक-पाँवड़े बिछाये खड़ी थी। जनाकांक्षा भी आरती सजाये दौड़ पड़ी थी।

वर्द्धमान महावीर जैसे ही कौशाम्बी की सरहद्दी पर पहुँचे, नगरी का वैभव बढ़ गया, लगा जैसे इतिहास की सभी सदियाँ मंगलघट लिये प्रभु के अभिनन्दन के लिए एकत्रित हुई हों। चारों ओर शुभकामनाएँ और समृद्धियाँ नृत्य कर रही थी। सबके हृदय उमंगों से भरे हुए थे। वत्सदेश का गाँव-गाँव, नगर-नगर वर्द्धमान की तेजस्विता से दमक उठा था, जहाँ उनका पदार्पण होता वहाँ अपार जनमेदिनी उमड़ पड़ती–आबालवृद्ध, स्त्री-पुरुष।

वर्द्धमान महावीर निर्ग्रन्थ (निगण्ठ) तपोधन थे। उन्होंने आत्मकल्याण की दुर्द्धर डगर अपनायी थी। वे तीर्थंकर ऋषभ से तीर्थंकर पार्श्व तक की श्रमण चिन्ताधारा की अन्तिम कड़ी थे। उनमें शताब्दियों का सदाचार मूर्तित हुआ था। समय उन्हें पाकर कृतज्ञ था।

वे निर्ग्रन्थ थे, उनके पुण्यदर्शन से मन की गांठें खुल जाती थीं। उनके ज्ञान की गठरी निर्ग्रन्थ थी; उन्मुक्त, आओ और जी चाहे उतना ले जाओ। उस गठरी की गाँठ कभी नहीं बँधी। जैनधर्म उदार है, वह निर्ग्रन्थ है, उसके ज्ञान की कोई थाह नहीं है। तीर्थंकर महावीर अपरिग्रह के सर्वोच्च शिखर थे, उनके जीवन में यह तथ्य प्रकट हुआ था कि जहाँ ग्रन्थ हार जाते हैं, वहाँ अनेकान्त शुरू होता है, जहाँ मतमतान्तर अपने अन्धे और दुराग्रहपूर्ण प्रतिपादनों से पराजित हो जाते हैं, वहाँ से निर्ग्रन्थ श्रमण की महिमा का आरम्भ होता है। अहिंसक जीवन-शैली के प्रवर्तक वर्द्धमान महावीर सर्वोदय-तीर्थ थे। वहाँ छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, स्त्री-पुरुष; इस भाषा, उस भाषा; इस प्रान्त, उस प्रान्त; इस वर्ण, उस वर्ण का कोई भेद नहीं था। वे जानते थे ग्रन्थ या ग्रन्थियों में ज्ञान नहीं है; ज्ञान कैदी नहीं है, उसका व्यक्तित्व उन्मुक्त है। ज्ञान ग्रन्थ से परे कोई अपूर्व वस्तु है। ग्रन्थ ज्ञान के लिए है, ज्ञान ग्रन्थ के लिए नहीं है। सच्चा साधक निर्ग्रन्थ होगा। वर्द्धमान ज्ञान की मूर्ति थे, नितान्त निर्ग्रन्थ; अपरिग्रही;

भीतर से, बाहर से–इतने कि आज के समाजवाद और साम्यवाद उनके सामने फीके लगते हैं, पासंग पर भी नहीं बैठते ।

ऐसे तेजस्वी पुरुष ने जैसे ही कौशाम्बी में प्रवेश किया चारों ओर हर्ष की लहर दौड़ गयी । सब अगवानी के लिए दौड़ पड़े; मन अगहुँड़, तन पीछे । सब प्रसन्न, हर्षोन्मत्त ।

चेटक की पुत्री, रानी त्रिशला की छोटी बहिन कौशाम्बी के एक तलघर में बैठी अपने दुर्भाग्य पर सिसक रही थी । बेड़ियों ने उसके अदृप्त शील-सौन्दर्य को जकड़ लिया था । पाँव कसे हुए थे , उन पर बेड़ियों के काले निशान चन्दनबाला के रूप को चुनौती दे रहे थे । चन्दन की रूपाभा ही उसका दुर्भाग्य बन गयी थी । वह सोच रही थी– "नारी कितनी विवश है ? उसका रूप स्वयं उसकी बेड़ी है । उसकी आँखों के सामने अतीत का सारा जीवन छायाओं में प्रस्तुत होने लगा । बहिन त्रिशला के साथ का शैशव, सखियों के साथ हुई केलि-क्रीड़ाएँ, राजसी जीवन के वैभव और निर्विघ्नताएँ, विद्याधर द्वारा अपहरण, कौशाम्बी की मण्डी में उसकी सार्व-

जनिक नीलामी, सेठ कृषभानु द्वारा उसकी खरीदी, सेठानी की डाह, तलघर में डाला जाना, सूप के कौदों पर उसकी गुजर, वह कांप उठी । उसे स्मृतियों के सांप डसने लगे । उसका सोया हुआ स्वाभिमान, नारीत्व और सतीत्व जाग उठा । मन उत्साह और स्फूर्ति से भर गया । कारण अब भी अज्ञात था । उसे देखकर लग रहा था जैसे किसी दिए की उज्ज्वल लौ अन्तिम नृत्य कर रही हो । चन्दन को एक दिव्यता का अनुभव हुआ, उसे लगा कि कुछ ही क्षणों में उसके जीवन के आँगन में प्रकाश की कोई किरण उतरेगी और तलघर का तिमिर टूट जाएगा, हार जाएगा; उसके जन्मजन्मान्तर के पाप धुल जाएँगे ।

कृषभानु के उस तलघर में, कौन जानता था, चन्दन जीवन के तल का स्पर्श करेगी, आत्मा के तल छुएगी, वीतरागता का मर्म उस पर न्यौछावर हो जाएगा ।

जैसे ही उसका ध्यान टूटा, उसने राजमार्ग पर हर्ष-ध्वनियाँ सुनीं । उसे अपने कानों पर विश्वास

चुम्बी स्वर में कह रही है–"वर्द्धमान की जय, महावीर की जय, विश्वधर्म की जय !" उसकी अनुभूतियों ने आरती सजोयी और चन्दन से पहिले उसका मन प्रभु के चरणों में पहुँच गया । आवाज बहुत दूर से आ रही थी । वर्द्धमान चर्या पर निकले थे । उनका दाहिना हाथ स्कन्ध पर था, बायें हाथ में पिच्छी और कमण्डलु थे । चन्दन का रोम-रोम हर्षध्वनि कर रहा था ।

वह सोचने लगी–"क्या मैं आहार दे सकूँगी ? मेरे पास तो ठीक से वस्त्र भी नहीं हैं, पाँव बेड़ियों में जकड़े हैं, कोदों के अलावा कुछ देने को नहीं है, मुझ निधनी के पास ऐसा क्या है जो प्रभु को समर्पित करूँ ?" सोचते-सोचते उसे तन-मन की कोई सुध ही न रही और उत्साह की स्फूर्ति में वह उठने लगी । उसे लगा जैसे उसकी बेड़ियाँ मुक्ति बन गयीं हैं, उनकी कठोरता पिघल गयी है । वह उठ सकी, उसने सूपड़े में कौदों लिये और ऊपर आ पहुँची । राजमार्ग ठसाठस था, किन्तु अब कोई कोलाहल नहीं था। चारों ओर शान्ति थी । चन्दन ने देखा प्रभु उसकी ओर चले आ रहे हैं । उसका रोम-रोम नाचने लगा ।

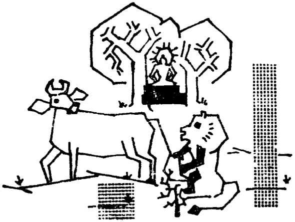
वह आगे बढ़ी और उसने श्रमण वर्द्धमान का आवाहन किया; उनकी भक्ति की, उन्हें पड़गाहा, उसकी खुशियों की सीमा न रही जब प्रभु ने उसकी विनय को स्वीकार कर लिया । एक अपूर्व दृश्य उपस्थित था । चन्दन कौदों ढाल रही थी और वर्द्धमान महावीर के करपात्रों में वे खीर बन रहे थे । कौदों के भाग्य खुल गये, चन्दन की कीर्ति फैल गयी । उसके जनम-जनम के पातक शिथिल पड़ गये । उसके मन में सम्यक्त्व स्पन्दित हो उठा । उसे आत्मशक्ति का बोध हुआ, आत्मा के मर्म खुले, रत्नत्रय का उपहार मिला । वह कौदों का आहार दे रही थी, ज्ञान का आहार ले रही थी । वर्द्धमान महावीर उसे आहार दे रहे थे, वह उन्हें आहार दे रही थी । एक दीख पड़ रहा था, एक अनदेखा सत्य था । दृश्य इतना अलौकिक था कि मध्याह्न का सूर्य भी उस तलघर में अनाहूत उतर आया था और चन्दन को कीर्तित करने का संकल्प ले रहा था । भारतीय नारीत्व अमर हो गया था, चन्दन का सतीत्व उदाहरणीय बन गया था ।

पीड़ित मानवता के घाव चन्दन से भर गये थे ।

लोगों ने देखा ऋषभानु-पत्नी चन्दन के पाँव पकड़े बैठी है । उसकी आँखें सजल हैं और मुख पर गहरा पश्चात्ताप । वह कह रही है–"बहिन, मुझे क्षमा कर दो, मैंने तुम्हारे साथ कितना अन्याय किया है ?" और इधर चन्दनबाला सेठानी के बलिष्ठ भुजमूल पकड़े उनसे बड़ी मधुर वाणी में कह रही है–"बहन, तुम बड़ी हो, चरण मुझे छूने दो, तुमने तो मेरा उपकार किया है, तुम न होतीं तो साक्षात्कार के ये क्षण कहाँ से आते । तुम्हारी बेड़ियों के आशीर्वाद में कैसे भूल सकूँगी ? ये न होतीं तो मुझे मुक्ति का मार्ग कैसे मिलता ? तुम्हारे तलघर ने मुझे आत्मबोध का तल दिखाया, इस तलस्पर्शी ज्ञान की निमित्त तुम्हीं हो । उठो बहिन, मेरी अनन्य कृतज्ञता स्वीकार करो, तुम सचमुच धन्य हो ।

और किसने नहीं देखा कि दसों दिशाएँ उस दिन चन्दन की आरती के लिए सजी-धजी खड़ी थीं । भारतीय नारीत्व को उस दिन एक और उज्ज्वल ऊँचाई मिली ।

□



शेर हार गया एक गाय से

राजकीय उद्यान, वन का एक सुहावना भाग, पतझड में भी अनायास वसन्त का आविर्भाव। पंछियों की चहक; शीतल, मन्द, सुगन्धित वायु के मधुर स्पर्श। सब ओर समता, सुख, शान्ति और सुषमा का साम्राज्य। वनस्पतियाँ तक निष्कण्टक, निरापद, अपनी शोभा में छकीं।

दिगम्बर श्रमण मुद्रा में वर्द्धमान महावीर बैठे हैं। उनके सम्मुख आसीन है भाव-विभोर मन्त्र-

मुग्ध नागरिकों का समूह । सारा वनखण्ड महका हुआ है, पेड़-पौधे शोभाश्री में झूम रहे हैं, उनकी सुन्दरता उनसे बाँधे नहीं बँध रही है । वनपाल फूला नहीं समा रहा है, उसे उद्यान नन्दनवन-सा लग रहा है । जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, ऋतुराज का वैभव ही उसे दीख पड़ता है । अपने श्रम को इस तरह सफल देख उसे राजा से पारितोषिक पाने की इच्छा हुई । मुनिश्री के शुभागमन की सूचना लेकर वह राजभवन में पहुँचा । मार्ग में जो मिला वनपाल उससे अपने सुख की बात कहते नहीं अघाया ।

राजा ने सुना तो वह अपने भाग्य पर रीझ उठा । तत्काल मुनि-वन्दना के लिए सपरिवार उपस्थित हुआ । पाँवों से मन आगे चल रहा था, उत्साह का ठिकाना न था । राजा ने चरण-वन्दना की और बैठ गये । सभी प्रभु की देशना सुन रहे थे ।

तीर्थंकर वर्द्धमान सरलता की जीवन्त मूर्ति थे । अहिंसा और समत्व में झुकीं उनकी पलकें वीतरागता का बोध दे रही थीं । उन्हें देख लग रहा था कि

झुकीं पलकों में कितनी शक्ति है । नम्रता और सरलता जैसी कोई ऋद्धि नहीं है । ठीक भी है जो पलकें झुका कर चलते हैं, प्रजा उन्हें पलकों पर उठा लेती है । तीर्थंकर ईर्या समिति के साकार रूप होते हैं । उनकी पलकों पर औद्धत्य का कोई प्रश्न ही नहीं है, बल्कि उनकी पलकों पर आरूढ़ सरलता अन्यों के औद्धत्य का शमन करती है और निर्मलता उत्पन्न करती है । एक अपार सारल्य उनके नेत्रों पर रहता है और करुणा, विनम्रता और समता का अतल समुद्र पलकों के उस पार तरंगायित रहता है; इसीलिए वे भेद-विज्ञान के तल-वितल छू पाते हैं । ज्ञान से विनम्रता, विनम्रता से ज्ञान एक चक्र-प्रवर्त्तन की भाँति बराबर समृद्ध होते रहते हैं ।

उपस्थितों के मन में प्रभु की यह मुद्रा अंकित हो ही रही थी कि लोगों ने सहसा एक सिंह की भयावह दहाड़ सुनी और देखा कि एक सुन्दर चमरी गाय भयाक्रान्त दौड़ी चली आ रही है । सिंह गरज रहा था, लोग शान्त थे; वीतरागता में मन्त्रमुग्ध वनस्पतियाँ तक शान्त थीं । भय का कहीं कोई लेश न था । सिंह से भयभीत गाय इधर से उधर दौड़ी

और एक घनी झाड़ी में घुस गयी । झाड़ी कटीली थी, गाय की सघन पूँछ उसमें उलझ गयी । चमरी की सबसे बड़ी दौलत उसकी पूंछ है । प्राण भले ही चले जाएँ पर वह पूँछ का एक बाल भी इधर-से-उधर नहीं होने देती । लाचार, विक्षुब्ध वह इस घबराहट में ठिठकी खड़ी रही कि शेर अब हमला करता है, अब प्रहार करता है । इतने में शेर आ पहुँचा, उसकी गर्जना शान्त हो चुकी थी, मन करुणा में नहाया हुआ था । सबने देखा उस हिंसक पशु ने चमरी पर कोई प्रहार नही किया । वह अपने नाखूनों की कंघी से चमरी की पूँछ बड़ी सावधानी से सुलझाने लगा । उसके-रक्त-पिपासु पंजे आज सेवा और करुणा में विनम्र थे । उसका वैर शान्त हो गया था, प्रतिहिंसा ठण्डी पड़ गयी थी । प्राणिमात्र के लिए समता और दया का भाव उसमें करवटें ले रहा था । सारा वातावरण एक अपूर्व निर्मलता से भर उठा ।

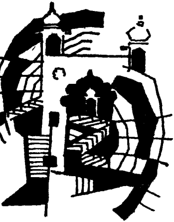
गाय प्रसन्न थी । उसे तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर की वीतरागता ने निरापद कर दिया था । उसका रोम-रोम प्रभु की वन्दना में समर्पित था । दर्शक इस अप्रत्याशित दृश्य पर मुग्ध थे । उन्हें सत्य स्वप्न

लग रहा था । हिंसा ने अहिंसा की वन्दना की थी, शक्ति ने अशक्ति को प्रणाम किया था । क्षमा का ऐसा विलक्षण समारोह मनुष्य की आँखों ने अब तक नहीं देखा था ।

सिंह ने गाय को झाड़ी से मुक्त किया और आकर प्रभु के सम्मुख नतमस्तक बैठ गया । वह मनुष्य से कहीं अधिक एकाग्रता से प्रभु की वाणी सुन रहा था । उसकी पलकें विनत थी। करुणा की अजस्र धारा आँखों से प्रवाहित थीं ।

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के जयघोष से वनप्रान्त गूँज रहा था । धरती का कण-कण आनन्द में निमग्न था ।

□



जैसा भवन, वैसा भुवन

राजगृही एक विशाल नगरी थी, व्यापार और राजनीति की प्रमुख केन्द्र। देश-विदेश के सार्थवाह वहाँ आया करते और राजनयिकों की गरमागरमी बनी रहती। राजा श्रेणिक एक प्रबुद्ध शासक थे। उनकी नगरी एक लोकविश्रुत नगरी थी। पाटलिपुत्र, श्रावस्ती, तक्षशिला, साकेत जैसे नगर उससे जुड़े हुए थे। सारी नगरी कई उपनगरों में बँटी हुई थी। कलाकारों के लिए अलग से बस्ती थी। विद्वज्जन अलग से निर्मित एक उपनगर में रहते थे। ये दोनों उपनगर राजगृही के सर्वश्रेष्ठ भाग थे। यहाँ काव्य, संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य के मर्मी कलाकारों

की दीर्घाएँ बनी हुई थीं, जिनमें उनकी सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ प्रदर्शित थीं। राजा श्रेणिक इन उपनगरों में बहुधा देखे जाते थे।

राजगृही के चारों ओर सुरक्षात्मक प्राचीरें बनी हुई थीं, कुछ अच्छे उद्यान थे और कई धनुषाकार सेतु बने हुए थे। प्राचीरें सुदृढ़ तो थीं ही, उन पर सुन्दर मूर्तियाँ और बेलबूटे भी उत्कीर्ण थे। सीमान्त पर सजल वापियाँ थीं और विशाल कमल ताल थे। राजगृही का सूर्योदय पक्षियों के कलरव से और सूर्यास्त गोधूलि से होता था। राजमार्ग व्यवस्थित थे, उन पर यातायात-संकेत बने हुए थे और प्रकाश की समुचित व्यवस्था थी। नागरिक शालीन थे, सब ओर अपूर्व शान्ति थी। लगता था जैसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी पुरुषार्थ उस नगरी में अपने संपूर्ण वैभव में प्रकट हुए हों।

राजा श्रेणिक का भवन विशेष दर्शनीय था। वह एक तरह का विशाल दुर्ग ही था। उसके चारों ओर कई सुन्दर लता-मण्डप बने हुए थे और भित्तियों पर कई रंगबिरंगे लोकचित्र अंकित थे। सारे कक्ष स्थापत्य शिल्प के अद्वितीय उदाहरण थे। प्रासाद की सबसे बड़ी विशिष्टता यह थी कि उसका कोई

भी प्रवेश सरल न था। कोई न कोई कौटिल्य बना हुआ था। प्रवेश के बाद, बिना किसी मार्ग-दर्शन के बाहर आना असंभव था। सामान्यजन आसानी से भटक सकता था। मार्ग में मार्ग और द्वार में द्वार उलझे हुए थे। कोई भी भवन-वीथि सरल न थी, उसमें ऐसे कलात्मक घुमाव दिये हुए थे कि बुद्धि स्तब्ध रह जाती थी। कूटनीति की तरह ही भवन भी घुमावों और विवर्तों से भरा हुआ था। वैभवों की कोई कमी न थी, सुरक्षा उसकी हर ईंट, हर पाषाण में गुंथी हुई थी।

एक बार वर्द्धमान महावीर राजगृही पधारे। उनके शुभागमन से राजगृही की शोभा और प्राकृतिक छटा बढ़ गयी थी; सुन्दर तो वह पहिले से ही थी, अब उसमें एक अभिनव आभा उभर आयी। मोतियों में जैसे एक अपूर्व दीप्ति समायी रहती है, वर्द्धमान महावीर के आने से वहाँ नागरिकों में एक आध्यात्मिक आभा झलक आयी। उनकी चित्त-वृत्तियाँ शान्त और स्निग्ध हो गयीं। नगरी में सौ-सौ ऋतुराजों की छटा उतर आयी।

श्रमण महावीर चर्या पर निकले हुए थे। राजगृही के श्रावक उन्हें पड़गाहने खड़े हुए थे।

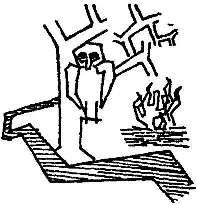
सबके मुखमण्डल आशा से उमंगित थे । उनका उत्साह देखते बनता था, उस दिन महाराज श्रेणिक भी पड़गाहने खड़े हुए । आज कुछ ऐसा हुआ कि महाश्रमण राजभवन के मार्ग पर निकल पड़े । राजा श्रेणिक के भाग्य खुल गये, उन्होंने बड़े शुद्ध चित्त से उन्हें पड़गाहा । उन्होंने श्रमण वर्द्धमान महावीर से भवन-प्रवेश के लिए नवधा भक्तिपूर्वक अनुनय विनय की । राजा श्रेणिक आगे और भगवान् पीछे, दर्शकों की मौन भीड़ उनके पीछे, सारा दृश्य भव्य, आँखों को उनका दृष्टव्य मिल गया । आहार-कक्ष भवन के गर्भभाग में था , राजा श्रेणिक बड़े संकोच में श्रमण महावीर का अभिनयन कर रहे थे । महाश्रमण जानते थे राजा श्रेणिक एक शुद्ध हृदय श्रावक हैं, उनमें जैनधर्म पर असीम श्रद्धा है । अन्ततः वह कक्ष आया जहाँ महाश्रमण को आहार ग्रहण करना था । राजा श्रेणिक ने नवधा भक्तिपूर्वक आहार देना प्रारम्भ किया । आरम्भ में ही उन्होंने बड़े संकोच में कहा—"प्रभो, जिसका भवन इतना घुमावदार है, उसका हृदय कितना कुटिल और घुमावदार होगा, तथापि मेरा शुद्ध आहार स्वीकार कीजिये ।"

वर्द्धमान महावीर ने उनकी उस बात को सुन तो लिया किन्तु वे चुप रहे । आहार निर्विघ्न संपन्न

हुए। दर्शकों की अपार भीड़ भवन के एक आंगन में एकत्रित थी। इस आंगन के बीचोंबीच एक चंक्रमण था। महाश्रमण उस पर आसीन हुए। नियमित देशना के बाद उन्होंने राजा श्रेणिक को संबोधित करते हुए कहा–"राजन्, तुम्हारा यह विशाल भवन भुवन का प्रतिबिम्ब है, सारा संसार ऐसा ही है; वर्तुल, कुटिल घुमावों और प्रपंचों से भरा हुआ। यहाँ चक्र के गर्भ में चक्र और छल के गर्भ में छल बने हुए हैं। इसीका नाम संसार है। तुम्हारा हृदय उतना जटिल नहीं है, जितना तुम्हारा यह भवन, तुम्हारा भवन उतना दुर्भेद्य नहीं है, जितना यह संसार। तुम्हारे इस भवन में भुवन का बोध समाया हुआ है, इस अनुराग में विराग और इस वैभव में मुक्ति की वर्णमाला अंकित है। यह संसार-दशा का दर्पण है।"

राजा श्रेणिक और उपस्थित दर्शक प्रभु की देशना सुन रहे थे। सारा दृश्य विलक्षण था। सब गद्गद् थे और संसार की विचित्र स्थिति पर विचार कर रहे थे। श्रमण महावीर की देशना का सार यही था–"संसार जटिल और घुमावदार है; किन्तु उसका सामना उत्तम आर्जव से किया जा सकता है।"

□



उज्जयिनी का श्मसान

क्षिप्रा का तट, नदी की क्षिप्र धार, चारों ओर सुनसान, विजन । सारा वातावरण शान्त, लहरों की एकान्त छपछपाहट से आक्रान्त ।

अतिमुक्तक श्मसान रौद्र रूप धारण किये था, कहीं अधजल चिता, कहीं राख की ढेरी, कहीं अस्थियों के विरूप टुकड़े, कहीं शृगाल, कहीं अन्य हिंस्र पशु । सारा परिवेश भय, जुगुप्सा और आतंक में काँप रहा था । श्रमण वर्द्धमान वहाँ से निकले, उन्हें वह स्थान तपश्चर्या के उपयुक्त दिखायी दिया । वे प्रतिमायोग में ध्यानावस्थित हो गये, सोचने लगे–"यह संसार नाशवान है, शरीर क्षणस्थायी है,

आत्मा अजर-अमर है ।" उनके मनःप्राण किसी अमृत की खोज में आलोड़ित थे । कुछ ही पलों में वे क्षेत्र और कालातीत ध्यानावस्था में पहुँच गये; जहाँ श्मसान और भव्य प्रासाद, तृण और कांचन, सुख और दुःख एक निस्सीम समत्व में साँस लेते हैं । उनमें भेद-विज्ञान का वैभव प्रकट था, उसकी रश्मियाँ श्मसान को भी नन्दनवन बनाये हुए थीं । शरीर भास्वर था, तपस्या कंचन-सी निखर गयी थी । श्मसान का बीभत्स, शान्त के चरणों में लोट रहा था । चारों ओर अपार शान्ति थी ।

अतिमुक्तक पर स्थाणु रुद्र का स्वामित्व था । उसने जब योगीश्वर महावीर को वहाँ इस तरह ध्यान मग्न देखा तो उसके मन को शंकाओं के सर्प ने डस लिया । वह सोचने लगा मेरा प्रभुत्व गया । कहीं ऐसा न हो यह चमत्कारी पुरुष मुझे पराजित कर दे और श्मसान पर अपना प्रभुत्व जमा ले । वह तुरन्त प्रतिकार की मुद्रा में आ गया । उसने तप में विघ्न डालने शुरू किए दिये । वह नाना विकराल मुद्राओं में प्रकट होने लगा । कभी वह अपनी रक्तपिपासु जीभ लपलपाता, कभी दहाड़ें मारता, कभी लाशें लेकर नाचता । कभी नरमुण्डों में रुधिर पीता, कभी अस्थियाँ लेकर नग्न ताण्डव

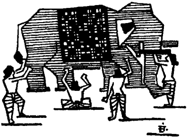
करता। तपस्या भंग करने में उसने कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी, किन्तु वर्द्धमान तो वर्द्धमान थे, उनकी तपस्या भी वर्द्धमाना थी। उसकी तीव्रता बढ़ती गयी। उन्हें न रुद्र का ध्यान था और न श्मसान का, वे तो आत्मा के अनन्त वैभव में निमग्न थे। रुद्र ने देखा स्थिति जटिल है। वह सोचने लगा–"जब मैंने विघ्न डालना आरम्भ किया था तब भी यह योगी ऐसा ही ध्यानस्थ था, और अब जब मैं थककर चूर हो गया हूँ और अधिक विघ्न नहीं डाल सकता तब भी यह उतना ही तल्लीन है। यह महान् है, 'महावीर' है। इसमें अनन्त आत्मशक्ति है। मैं क्षुद्र हूँ। उसने उनके चरणों का स्पर्श किया और समाधि टूटने की प्रतीक्षा करने लगा।

कुछ समय बाद तीर्थंकर महावीर की तप-मुद्रा टूटी। भोर हो गया था, पंछी कलरव कर रहे थे, क्षिप्रा की धार धीमी थी, मन्द पवन प्रभु की ताज़गी और सौरभ लेकर दिग्‌दिगन्त को बाँटने की तैयारी कर रहा था, रुद्र की आँखें पछतावे में झुकी हुई थीं, उसके हाथ वन्दना में बँधे हुए थे।

इधर प्रभु के नेत्रों में करुणा का अतल सिन्धु लहरा रहा था। उन्होंने रुद्र को देखा। अभय में हथेली उठी और वे सहज ही उगते सूर्य के साथ अपनी कर्त्तव्य-यात्रा पर निकल पड़े।

□

ইশারা



'भी' के वैविध्य में 'ही' के यथार्थ दर्शन संभव हैं। 'भी' की सुकुमार संवेदनशील अँगुलियाँ ही 'ही' को मुट्ठी में पकड़ने की क्षमता रखती हैं।

आत्मदर्शन से लोकदर्शन

जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है । उसकी वैज्ञानिकता एक स्वयंसिद्ध तथ्य है। जिन विद्वानों ने जैनधर्म का तुलनात्मक अध्ययन किया है, उन्होंने इसके वैज्ञानिक और युक्तियुक्त होने की सचाई को निःसंकोच स्वीकार किया है। यहाँ धर्म और विज्ञान दो परस्पर-विरोधी शब्द नहीं हैं। एक जीवन के शिवत्व का और दूसरा सत्य का प्रतीक है। जैनधर्म क लिए यदि कोई उपयुक्त शब्द है तो आत्मविज्ञान । आत्मा की खोज ही उसका केन्द्र-बिन्दु है। वह आत्मा के शुद्धत्व की खोज का मार्ग है। उसने अपनी इस खोज-यात्रा में अनेक तथ्यों

का आकलन और उद्घाटन किया है। ये तथ्य न कवल आत्मा के संबन्ध में हैं वरन् यह लोक कैसे बना; कौन-कौन द्रव्यों ने इसकी रचना की? इस संबन्ध में भी उसके साधकों की देन बड़ी महत्त्वपूर्ण है। जहाँ हमारी इन्द्रियों की सीमा और सामर्थ्य समाप्त होती है, आत्मदर्शन का सूत्रपात होता है। तीर्थंकरों ने आत्मदर्शन या साक्षात्कार के माध्यम से लोकदर्शन किया है।

भाषा में फासला

ईसा की १७वीं-१८वीं शताब्दियों में सर आइजक न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण शक्ति की बात कही है। स्वभावत: लोगों का ध्यान इस ओर गया। भारतीय दर्शन का, विशेषत: जैनदर्शन का, जिन्हें कोई ज्ञान नहीं था, उन्हें यह तथ्य बिलकुल नया दिखायी दिया; किन्तु बात ऐसी नहीं थी। तीर्थंकरों को आत्मविद्या के संदर्भ में इसका बोध बहुत पहिले ही था। बात यह है कि न्यूटन हमारे निकट का व्यक्ति है, इस दृष्टि से तीर्थंकर महावीर काल के एक सुदूर छोर पर दिखायी देते हैं, जहाँ हमारी आस्था और विश्वास बड़ी कठिनाई से पहुँच पाते

हैं। आधुनिकता के परिवेश में आते-आते हम काफी बदल गये हैं, हमारी भाषा और समझ में भी एक सुदीर्घ फासला पैदा हो गया है। हमारी ज्ञान-ग्राह्यता में भी फर्क आया है। यह स्वाभाविक है। देश की सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों में भी फेरबदल हुआ है। इसलिए जो बात न्यूटन ने कही और जो दूसरी भाषा की पीठ पर चढ़कर हमारी धरती पर आयी; उस पर हमारा ध्यान गया। यह सब आत्मविस्मृति का दुष्परिणाम है। हम स्वयं को भूल गये।

जो बात वैज्ञानिक न्यूटन ने कही है, उसे आगम के साक्ष्य पर विक्रम की दसवीं शताब्दी में हुए जैनाचार्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि ने तत्त्वार्थसार में इस तरह रखा है—

> **तथापि गौरवाभावान्न पातोऽस्य प्रसज्यते ।**
> **वृन्तसम्बन्धविच्छेदे पतत्याम्रफलं गुरु ॥**

(स्थानवान् होने पर भी गुरुत्व का अभाव होने के कारण मुक्त जीव के पतन का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि शाखा से संबन्ध टूटने पर गुरु (वजनी)

आम का फल नीचे गिरता है। न्यूटन का सेव, अमृतचंद्रसूरि का आम दोनों ही का फल एक है—गुरुत्वाकर्षण। गुरुता के अभाव में आत्मा पृथ्वी के आकर्षण से मुक्त हो जाती है, पतन की ओर फिर कोई शक्ति उसे खींच नहीं सकती। आचार्य की बात सूक्ष्म है और सर आइजक की स्थूल; एक का संदर्भ भौतिक विज्ञान है, एक का आत्मविज्ञान।

परमाणु : आदि, मध्य, अन्त

इसी तरह जैनधर्म में परमाणु और कर्मबन्ध तथा मोक्ष के तथ्यों को रखा गया है। परमाणु का स्वरूप क्या है? उसकी बनावट क्या है? इस सिलसिले में वैज्ञानिक नील्सब्होर, रदरफोर्ड इत्यादि ने हमारी शताब्दी में बड़े विस्तार से कार्य किया है। जैनाचार्यों की परिभाषाएँ भी मननीय हैं। अमृतचंद्रसूरि की परिभाषा है—

आत्मादिरात्ममध्यश्च तथात्मान्तश्च नेन्द्रियः ।
गृह्यते योऽविभागी च परमाणुः स उच्यते ।।

(वही जिसका आदि है, वही जिसका मध्य है, वही जिसका अन्त है, इन्द्रियों से जिसका ग्रहण

नहीं होता तथा जिसके अन्य विभाग नहीं हो सकते, वह परमाणु कहा जाता है।) इस तरह परमाणु की रचना को समझाया गया है। यह विज्ञान की परिभाषा से सौ फीसदी मेल खाती है। जैनधर्म में अणु और स्कन्ध की निष्पत्ति पर भी विचार हुआ है। अणुओं क स्कन्ध रूप लेने के गणितीय समीकरण भी दिये गये हैं। जिस बात को यूनानी दार्शनिक ठीक-ठीक नहीं कह पाये थे और जिस पर आधुनिक वैज्ञानिकों में एक लम्बे अर्से से विवाद चला आ रहा था, जैनग्रन्थों में उसके सहज और सुस्पष्ट वर्णन मिलते हैं। जैन मुनियों के लिए यह आवश्यक है कि वे परमाणु की बनावट और वृत्ति के बारे में जानें। भेदविज्ञान की तो यह आधारशिला है। इसके बिना तो उसका एक कदम भी आगे नहीं उठ सकता। पुद्गल का स्वरूप जाने बिना सप्त तत्त्वों की पकड़ असंभव है। जैन कर्म-सिद्धान्त की नींव सप्त तत्त्व हैं। सारी जैन तपश्चर्या का नाभिक सप्त तत्त्व हैं। जैन दर्शन में छह द्रव्यों और सात तत्त्वों का उतना ही महत्त्व है जितना ज्ञान के लिए किसी भी भाषा की वर्णमाला का। ये जैनधर्म के 'क ख ग' हैं। जैनदर्शन में इनकी बड़ी सूक्ष्म,

तर्कसंगत और गहरी समीक्षा उपलब्ध है; जो शास्त्रीय है, वैज्ञानिक है; धर्म के आकार में विज्ञान और विज्ञान के आकार में धर्म ।

सम्यक्त्व का राजमार्ग

प्रश्न उठ सकता है कि जैन-आचार्यों ने उपकरणों के अभाव में यह सब कैसे जाना ? उन्हें यह सर्वज्ञता कैसे प्राप्त हुई ? केवलज्ञान से। यह केवलज्ञान क्या है ? जो सर्वद्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों को युगपत् जानता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। यह कर्मरहित अवस्थामें प्रकट होता है। मेचकता के खत्म होते ही ज्ञान की यह निर्मलता प्रकट होती है। केवलज्ञान की पूर्वावस्था सम्यक्त्व है; सम्यक्त्व की पकड़ में कैवल्य बैठा हुआ है। कैवल्य सम्यक्त्व का अतिथि है। इसे अलकार की तरह समझना चाहिये, कुतर्क की तरह नहीं कि जिसका पाँव सम्यक्त्व के राजमार्ग पर जमा हुआ है, उसे केवलज्ञान के पड़ाव तक पहुँचने का टिकिट मिला हुआ है। वह पहुँचेगा ही। जो मोक्ष के मार्ग पर है, वह विज्ञानी है, तत्वान्वेषी है। ये खोज-यात्री अपनी यात्रा में चिन्तन की जिस प्रक्रिया को अपनाते

हैं, उसे अनेकान्तवाद, स्याद्वाद या आधुनिक विज्ञान की शब्दावली में सापेक्षतावाद कहते हैं। अणुविज्ञानी नील्सव्होर, रदरफोर्ड, अल्बर्ट आइन्स्टीन, फ्रांक इत्यादि का ध्यान जब सापेक्षता की ओर गया तो उन्होंने दिक्काल (आकाश और काल) द्रव्यों को लेकर कई अजाने तथ्य सामने रखे। जैनधर्म छह द्रव्यों के अन्तर्गत पहिले ही गति, स्थिति, आकाश काल और पुद्गल द्रव्यों पर सूक्ष्मता से विचार कर चुका है। उसके लिए यह सबकुछ नया नहीं है। शैली नयी है; तथ्य वे ही हैं, जो तीर्थंकरों ने जाने और कहे हैं। आइन्स्टीन का सापेक्षावाद (थियरी ऑफ रिलेटिव्हिटी) जैनाचार्यों की सात भंगिमाओं में प्रस्तुत अनेकान्तवादी चिन्तन-प्रणाली से तुलनीय है। आइन्स्टीन ने माना है कि प्रकृति की सारी घटनाएँ दिक्काल में घटित हैं। जैनदर्शन इसे सहस्रों वर्ष पूर्व कह चुका है। लोक षड्द्रव्यमय है; ये हैं—जीव, अजीव, धर्म (गति), अधर्म (स्थिति), आकाश (दिक्) और काल। सारी लीला और समस्त विस्तार इन छह का है।

पुद्गल : पूरण, गलन

आयें हम जैनधर्म की एक और वैज्ञानिकता का अध्ययन करें। पुद्गल क्या है? अमृतचन्द्रसूरि ने लिखा है—

भेदादिभ्यो निमित्तेभ्यः पूरणाद्गलनादपि ।
पुद्गलानां स्वभावज्ञैः कथ्यन्ते पुद्गला इति ॥

(भेद आदि के निमित्त से जिनमें पूरण (नये परमाणुओं का संयोग) और गलन (संयुक्त परमाणुओं का संयोग) होता है, उन्हें पुद्गलों के स्वभाव के ज्ञाता पुरुष पुद्गल कहते हैं।) अंग्रेजी में पूरण को इन्टीग्रेशन और गलन को डिस-इन्टीग्रेशन कहते हैं। पूरण और गलन की ये क्रियाएँ ही पर्यायों की जन्मदात्री हैं। द्रव्य बना रहता हैं, पर्यायें बदलती जाती हैं; पूरण और गलन की क्रियाएँ संयोग और वियोग के रूप में प्रकट होती हैं।

"सत्" : अनेकधर्मा

अणु और स्कन्ध (अणुस्कन्धविभेदेन द्विविधाः खलु पुद्गलाः) को लेकर पुद्गल के दो भेद हैं;

देश और प्रदेश। अनन्त परमाणुओं का समूह स्कन्ध कहलाता है, स्कन्ध का आधा देश और देश का आधा प्रदेश। उक्त व्याख्या बहुत गहरी गयी है और पुद्गल की पर्यायों के अन्तर्गत शब्द, संस्थान, सूक्ष्मत्व, स्थौल्य, बन्ध, तम, छाया, आतप, उद्योत और भेद की बड़ी सूक्ष्म विवेचना हुई है। यह सब अनेकान्तवाद से जाना गया है। अनेकान्तवाद लोकव्यापी है; वस्तु अनेकधर्मा है। वस्तु अर्थात् सत् याने अस्तित्व। इसमें परस्पर विरोधी धर्मों का सहवर्तित्व है। इन सबकी कोई युगपत् व्याख्या या परिभाषा संभव नहीं है। भाषा असमर्थ है, शब्द घुटने टेके हुए हैं। भाषा की इस लाचारी का हल है स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। हम देखते हैं कि किसी भी वस्तु के समग्र व्यक्तित्व का युगपत् वर्णन संभव नहीं है; इस व्यक्तित्व के स्पष्ट ज्ञान के प्रयत्न मे अनेकान्तवाद का जन्म है आविर्भाव है।

भेदवैज्ञानिक विवेक

जैनधर्म मोक्षमार्गी धर्म है। मोक्ष यहाँ मुख्य, शेष आनुषंगिक हैं। मुमुक्षु जितना प्रयोजनभूत है, उतने का ही स्वीकार करता है, शेष नकार देता है।

हेय (छोड़ने योग्य) और उपादेय (पाने योग्य) की परख के बिना वह एक पग या एक पल भी आगे नहीं बढ़ सकता। उसकी यात्रा में क्या ग्राह्य है और क्या अग्राह्य है, इस भेदवैज्ञानिक विवेक में ही उसकी संपूर्ण यात्रा सफल या असफल है। इसलिए आत्मा का सच्चा खोजी, इसी ओर पूरी सावधानी रखता है।

सम्यक्त्व पर टकटकी

सम्यग्दर्शन (सही और यथार्थवादी रुझान), सम्यग्ज्ञान (स्व-पर ज्ञान, समीचीन ज्ञान) और सम्यक्चारित्र (तदनुरूप चारित्रिक प्रतिबिम्ब) मोक्षमार्ग है। तत्त्वार्थसूत्र में स्पष्ट सूत्र है- सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः--सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र कुल मिलकर मोक्षमार्ग हैं। यहाँ दर्शन ज्ञान, और चारित्र के पूर्वप्रयुक्त 'सम्यक्' विशेषण ध्यान देने योग्य है। इसकी पल-पल, पग-पग जरूरत है। छलावे से रक्षा के लिए सम्यक्त्व पर अनुक्षण टकटकी रखना आवश्यक है। सम्यक्त्व की अपलक खोज और उपलब्धि जैनधर्म है।

आसपास के पड़ाव

सम्यग्दृष्टि कौन ? वह जो छह द्रव्यों को बिना किसी बहस में पड़े ठीक-ठीक जानने की वास्तविक चिन्ता रखता है। सच्चे ज्ञान का अन्वेषक किसी विवाद मे नहीं पड़ता, उसका ध्यान लक्ष्य पर होता है। वही उसका आदि वही मध्य, वही अन्त; अणु की परिभाषा की तरह। सम्यग्दर्शन के लिए उपयुक्त शब्द श्रद्धान है, जिसमें श्रद्धान है वह ज्ञान की, सही ज्ञान की ओर दौड़ता है। जीव क्या है, अजीव क्या है, आस्रव और बन्ध क्या हैं, संवर और निर्जरा क्या हैं, मोक्ष किसे कहते हैं ? इनके सही संदर्भ और आशय क्या हैं ? छह द्रव्य क्या हैं, लोक में इनकी यात्रा का स्वरूप क्या है ? सम्यक्त्व की ओर जिस का चित्त जागा हुआ है, वह इनकी ओर ध्यान देता है। वह पहिले ध्यान से सुनता है, फिर उन पर आस्था जमाता है, उन्हें परखता और प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्ति है दृष्टि परख और प्यास। जिसमें प्यास है, पानी खोजेगा, पानी पहिचानेगा, और पानी पियेगा। वह पानी की जगह कुछ और क्यों पियेगा ? और यदि उसे अपने इस कार्य में सफल होना है तो वह तदनुरूप

अपने आचरण का नियमन करेगा। यह सम्यक्-चारित्र है। आत्म-तन्त्री की तीनों खटियाँ जबतक ठीक से नियन्त्रित नहीं होंगी, स्वरूपाचरण का संगीत उसमें से कैसे निनादित होगा! यह तो जरूरी है ही; सम्यग्ज्ञान के अगलबगल के एक पड़ाव के रूप में। इसे यों समझिये कि सम्यग्ज्ञान रूपी रथ के दो चक्र हैं; एक सम्यग्दृष्टित्व, दूसरा सम्यक्चारित्र। इनमें से एक भी बिगड़ा कि रथ ठप्प। इस क्रम में ही सफलता सांस ले रही है; वैसे क्रम की अपेक्षा उपलब्धि पर ही ध्यान होना चाहिये; किन्तु यह भी सच है कि जो रास्ता जिस गन्तव्य तक जाता है, उसकी ठीक-ठीक परख और ज्ञान के अभाव में चलना शुरू कर देना, अदूरदर्शिता है। इससे फासला बढ़ेगा और यात्रा को कहीं दूर जाकर फिर से आरम्भ करना होगा।

अनेकान्तवाद : सत्य की शोध

सम्यग्ज्ञान का मूल आधार 'स्यादवबोधनम्' याने स्याद्वाद है। इसी से यथार्थ की, सत्य की समीचीन खोज का प्रारम्भ होता है। पहिले समझ, फिर परख, फिर तलाश, फिर पहुंच। अनेकान्तवाद

सम्यग्ज्ञान तक पहुँचने का राजमार्ग है। तीर्थंकर महावीर ने इसे बड़ी सूक्ष्मता और गहराई से समझाया है। शोध के पूर्व शोधविधि (मेथेडोलाजी) का जानना भी महत्त्वपूर्ण है। अनेकान्तवाद सत्य की शोध-पद्धति है, एक प्रांजल जीवन-दर्शन की सु-चिन्तित परिपाटी। इससे सत्य अपने दिगम्बर रूप में आ खड़ा होता है।

चौकस चलने की जरूरत

दरअसल आत्मा की खोज कोई साधारण काम तो है नहीं; यह क्षेत्र बड़ा विशद, गहरा, सुकुमार और संवेदनशील है। इसमें पतन की संभावना प्रतिपल बनी होती है। स्वानुभूतित्व इस खोज यात्रा का पाथेय है, इसलिए जैनतत्त्व के जिज्ञासु को आठों याम चौकस चलने की जरूरत है। आक-र्षण-विकर्षण की लीलाभूमि इस लोक में उसे आत्मा के शुद्धत्व को खोजना है; यह एक वस्तु-परक साधना है; निर्मम, निर्भ्रम। इसमें तनिक भी इधर-उधर हुए कि बात बिगड़ी। ठीक भी तो है जब हम एक मामूली सांसारिक सिद्धि के लिए चौकन्ना चल सकते हैं, तो यहाँ तो उससे कई गुना

सावधान रहने की जरूरत है। अनेकान्तवाद की अनुपस्थिति में आत्मज्ञान की यह यात्रा निर्बाध नहीं चल सकती। अनेकान्तवाद पर ऊपर हमने किंचित् विचार किया है, नीचे हम तनिक विस्तार में जाएँगे।

व्यक्तित्व-बोध

अनेकान्तवाद 'सत्' के स्वरूप-उद्घाटन का, उसके व्यक्तित्व-बोध का चिन्तन है। एक ही वस्तु में कई विशिष्टताएँ अन्तर्भुक्त हैं; ये परस्पर-विरोधी भी हैं, तथापि साथ-साथ जी रही हैं। इन्हें सामान्य भाषा-पद्धति से जानना मुमकिन नहीं है; इसीलिए 'स्याद्वाद' की विलक्षण भाषा-पद्धति का आश्रय लिया गया है। यह अलौकिक तथापि जानी-पहिचानी ज्ञान-पद्धति है; इसका आध्यात्मिक क्षेत्र के अलावा अन्य लौकिक क्षेत्रों में भी उपयोग संभव है। लोकतन्त्र और समाजवाद जैसी जीवन-पद्धतियों के लिए तो इसका बहुत उम्दा उपयोग हो सकता है। जिस तरह आत्म-सत्य के उदघाटन में अनेकान्तवाद उपयोगी है; मानवीय सत्यों को जानने में भी यह उपकारक हो सकता है। इससे मानव-

चरित्र में अनाग्रह, सहिष्णुता और उदारता का अंकुर जमेगा और एक रचनात्मक चिन्तन प्रकट होगा। स्याद्वाद एक ऐसी प्रणाली है, जो वस्तु को, वस्तुस्थिति को समग्र रूप में समझा सकती है।

विशेष मुख्य, शेष गौण

उदाहरण के लिए एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, पति, मामा, काका, भानजा, भतीजा, इत्यादि सभी हो सकता है, एक साथ होता है; किन्तु उसे ऐसा सब कुछ एक साथ, युगपत् नहीं कहा जा सकता। यहाँ हमें उसकी एक विशेषता को मुख्य और शेष को गौण रखकर ही कहना होगा। गौण रखने का अभिप्राय अस्वीकार कदापि नहीं है, इसे अनिश्चय या संशय के खाते में भी नहीं डाला जा सकता। इसे सोचने का विशद और स्वस्थ ढंग ही कहा जाएगा। देखिये न, पत्नी के संदर्भ में एक ही व्यक्ति पति, पुत्र की अपेक्षा में पिता, पिता की अपेक्षा में पुत्र, भानजे की दृष्टि में मामा, भतीजे की आँख में काका, मामा की नजर में भानजा और काका के संदर्भ में भतीजा है। इस तरह बिना संदर्भ में लिए हम किसी भी वस्तु या स्थिति को ठीक-ठीक नहीं

जान सकते । इससे यह सिद्ध हुआ कि युगपत् कथन न जरूरी है, न संभव; किन्तु वस्तु को उसके समग्र व्यक्तित्व में जानने के लिए उसे विविध संदर्भों में स्थापित कर देखना-टटोलना जरूरी है। यही अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद की आँख सदैव समग्रता की ओर लगी रहती है, वह अखण्ड को खण्डशः जानकर भी अखण्ड देखती है।

जैनधर्म : आत्मविज्ञान

अनेकान्तवाद विवक्षित धर्म (मुख्य गुण) के स्वीकार द्वारा अविवक्षित धर्म (गौण विशेषता) का अस्वीकार नहीं करता। वह उसे मानता है और उस पर विविध संदर्भों में विचार करता है। इस यथार्थ की समीक्षा में, उसकी सांगोपांग विवेचना में अनेकान्तवाद जितना सफल है, और कोई चिन्तन-व्यवस्था नहीं। वस्तु की असली शख्शियत और शनाख्त की ओर ले जानेवाली यदि कोई तरकीब है तो वह है 'स्याद्वाद' 'अनेकान्तवाद'। सापेक्षता विज्ञान का मूल आधार है, जैनधर्म आत्मविज्ञान है, अतः उसकी सारी इमारत इसी प्रक्रिया पर खड़ी हुई है।

व्याकरण थक जाता है

'स्याद्वाद' को लेकर कई विद्वानों में अनावश्यक भ्रम फैले हैं। जैन दर्शन की इस चिन्तन-प्रणाली को 'अनिश्चय, भ्रम' इत्यादि कहा गया है। ऐसा उसे न जानने के कारण ही हुआ है। 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' को लेकर ही सारा झमेला है। 'स्याद्वाद' का 'स्यात्' निपात है, वह 'शायद', संभव या 'कदाचित्' का पर्याय शब्द नहीं है। बड़े-बड़े विद्वान् यदि वास्तविकता को ढाँककर गलत निष्कर्षों पर पहुंचते हैं तो इससे कोई प्रणाली तो दूषित या अपूर्ण नहीं हो जाती ? 'निपात' वास्तव में ऐसे शब्द हैं जिनकी व्याख्या में या जिनकी शनाख्त में व्याकरण किकर्त्तव्यविमूढ़ है। ऐसे शब्दों को लेकर व्याकरण मौन रह जाता है। 'स्यात्' अनेकान्त का वाचक शब्द है। किसी कथन के साथ 'स्यात्' रखकर एक को विवक्षित और शेष को अविवक्षित रखा जाता है। अनेकान्त का यही मर्म है। इस संदर्भ में हम द्रव्य को ही लें। हम यदि उसे नित्य कहेंगे तो पर्यायों की क्या व्याख्या होगी; उसके उत्पन्न होने और नष्ट होने के तथ्य का खुलासा कैसे होगा ?

इसलिए द्रव्य को निरपेक्ष रूप में नित्य कहना संभव नहीं है। उसका नित्यत्व 'ध्रौव्य' में अन्तर्भुक्त है, वह अपनी निजता में अविनाशी है, उसका कभी क्षय नहीं होता। पर्याय की अपेक्षा में वह अनित्य है। वहाँ उसका 'उत्पाद' याने आविर्भाव और 'व्यय' याने तिरोभाव होता है। इस तरह एक ही वस्तु में उसके निर्माण, पोषण और विनाश को देखा जा सकता है। अनेकान्तवाद से उपरति सारी समस्याओं को पेचीदा बना देती है।

'स्यात्': सचेतक

'स्याद्वाद' का 'स्यात्' सचेतक (व्हिप) की तरह का नियामक तत्त्व है। जैसे ही हम सत्यान्वेषण के अपने संकल्प में इधर या उधर होते हैं, सचेतक की चाबुक हमें सही डगर पर ले आती है। इस तरह इसे संशय नहीं, अनुशासन की उपयुक्त व्यवस्था मानना चाहिये। वास्तव में भाषा जिसे कह नहीं पाती, 'स्यात' उसकी पूर्ति है। यह 'स्यात्' जिनागम का परम बीज या परम जीव है, अर्थात् उसका मूल आधार या प्राण है।

स्याद्वाद : वस्तून्मुख समीक्षक

यदि स्याद्वाद को हम द्रव्य की खोज-यात्रा में कुछ क्षणों के लिए पकड़ें तो यह अधिक दिलचस्प होगा। द्रव्य उत्पन्न नहीं होते, उनका कभी विलय, विनाश या तिरोभाव संभव नहीं है, वे अनादि हैं, अनन्त हैं और संख्या में गिने-गिनाये हैं; न घट, न बढ़। फिर ये इतनी सारी शक्लें क्या हैं? द्रव्य यदि एक ही है तो हमारे आजू-बाजू यह जो सारा प्रपंच है, इसकी व्याख्या क्या है? यहाँ स्याद्वाद की सहायता जरूरी है। विश्व का सबसे सही और निष्पक्ष समीक्षक यदि कोई है तो वह है, 'अनेकान्तवाद'।

अनेकान्तवाद : एक साथी, एक सलाहकार

बात यह है कि 'द्रव्य' मनुष्य की अपेक्षा अधिक अनुशासनप्रिय हैं; वे किसी भी स्थिति में अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते। प्रत्येक द्रव्य (गुण पर्याय-विशिष्ट) उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य रूप है। इसे अनेकान्त की सात भंगिमाओं में रखकर उसकी संपूर्णता में समझा जाता है। द्रव्य कभी नष्ट नहीं होते, वे

अविनाशीक हैं, नित्य हैं; यह कथन ध्रौव्य की अपेक्षा से है। वे उत्पन्न होते हैं, यह भी सच है। विरोध होते हुए भी सच है; क्योंकि पर्याय की दृष्टि से उनका नाश होता है, जन्म होता है। मानिये कि किसी व्यक्ति को अपनी सोने की जंजीर की अँगूठियाँ बनवानी है। वह सुनार के पास जाता है, उसे कहता है। जंजीर नहीं रहती, अँगूठियों का जन्म होता है। जंजीर सोने की एक शक्ल है, अँगूठियाँ दूसरी। सोना दोनों में यथावत् है। इससे द्रव्य का उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तो सिद्ध होता ही है; जैनधर्म का कर्मसिद्धान्त भी स्पष्ट होता है। जीव वही है, परिणमन में विभिन्न गतियाँ झेल रहा है; शुद्धावस्था में आने पर उसकी यह घुमक्कड़ी समाप्त हो जाएगी। वह कैवल्य-धाम पहुंच जाएगा। इस तरह अनेकान्तवाद को विषम-से-विषम स्थितियों में एक अच्छे ईमानदार और प्रामाणिक दोस्त और परामर्शदाता के रूप में देखा जा सकता है।

'भी' अंगुलियाँ, 'ही' मुट्ठी

अनेकान्तवाद को भलीभाँति समझ लेने पर, जैनधर्म की खूबियों का बोध होता है। लोक-रचना

और कर्मबन्ध के पेचीदा सवाल सहज ही हल हो जाते हैं । ससार और मोक्ष, सब बड़ी आसानी से पकड़ में आ जाते हैं । इस तरह अनेकान्तवाद को समग्रता, संपूर्णता या सर्वांगिता की क्रमानुक्रमिक खोज कहा जाएगा । संसार में कुछ लोग 'ही' वादी हैं, और कुछ 'भी' वादी । जैनधर्म न 'ही' वादी है, और न 'भी' । उसका अपना कोई आग्रह नहीं है । जो सही है, उसे खोजो और मानो; इसके अलावा जैनधर्म का कोई कथन नहीं है । इसीलिए वह 'भी' लगाकर किये हुए वस्तुपरक अध्ययन को अन्तिम 'ही' तक ले जाने की प्रक्रिया में विश्वास रखता है । 'भी' के वैविध्य में, 'ही' के दर्शन किये जा सकते हैं । 'भी' की लोचपूर्ण संवेदनशील अँगुलियाँ ही 'ही' को मुट्ठी में पकड़ने की क्षमता रखती है । यह है जैनदर्शन, अनाग्रही, उदार, संतुलित और सम्यक् की कसौटी पर कसा हुआ । अनेकान्तवाद में आत्मानुशासन तथा जीवन के अन्य विविध संदर्भों के लिए एक विधायक जीवन दृष्टि समायी हुई है ।

एकान्त विग्रह : अनेकान्त मैत्री

आज के दुराग्रह और हठधर्मिता से तिलतिल-भरे जीवन में अनेकान्तवाद ही समन्वय का सबसे

बड़ा साधन है। एकान्त विग्रह है, फूट है; अनेकान्त मैत्री है, सन्धि है। मैत्री ही नहीं बल्कि कहिये विश्व-मैत्री है। केवल इतना ही यदि समझ लिया जाए तो विश्व-शान्ति के लिए मूल आधार घड़ा जा सकता है। जिस तरह सही मार्ग पर चलने के लिए कुछ अन्तर्राष्ट्रीय यातायात-संकेत बने हुए हैं और सब उनके अनुसरण से ठीक-ठीक चल लेते हैं; स्वस्थ चिन्तन के मार्ग पर चलने के लिए अनेकान्तवाद ने भी इसी तरह के सात संकेतों की रचना की है। इनका अनुगमन करने पर किसी बौद्धिक दुर्घटना की आशंका नहीं रह जाती। मोक्षमार्ग पर चलने के लिए अनेकान्तवाद एक विश्वसनीय चिन्तन-प्रणाली है। सम्यग्ज्ञान की नीव यही स्याद्वाद है; सम्यग्ज्ञान राजमार्ग है, कैवल्य गन्तव्य है।

दिगम्बर नेत्र

यह लोक छह द्रव्यों का बना हुआ है, ये हैं– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव चेतन और शेष अचेतन हैं। पुद्गल दृश्य होने से सबकी अनुभूति के विषय हैं, किन्तु ये भी पूरी तरह दृश्य नहीं है। नंगी आँखें इन्हें नहीं पकड़ पातीं,

दिगम्बर नेत्र ही इन्हें पकड़ सकते हैं। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, जिसमें है और जिसमें पूरण और गलन की क्रियाएँ बेरोक चल रही हैं, वह पुद्गल द्रव्य है। जीव अमूर्तिक है, दिखायी नहीं पड़ता। उसका बोध स्वानुभूति, वह भी प्रखर, का विषय है।

घुमन्तू पुद्गल

पुदगल स्वभावतः यात्राप्रिय द्रव्य है। वह परिणमन करता है, काल उसका उपकारक द्रव्य है। बालक युवा हुआ, युवा वृद्ध हुआ; यह काल द्रव्य का उपकार है। काल की सूचना परिणतियों के झरोखों से झाँकती है। जीव और पुद्गल सक्रिय और बाकी के द्रव्य निष्क्रिय हैं। जीव और पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते, जाते, रुकते हैं। गति, स्थिति उनकी प्रवृत्तियाँ हैं। गति धर्म द्रव्य का उपकार है, स्थिति अधर्म द्रव्य का। इसके साथ ही जुड़ा हुआ प्रश्न है अधिकरण का। यह सारी लीला कहाँ होती है? बिना आधार के किसी पदार्थ की कल्पना कैसे? इस तरह आकाश द्रव्य का बोध होता है। लोक छह द्रव्यों की निर्मिति है।

द्रव्य की परिभाषा बहुत स्पष्ट है; जो है, जिसकी सत्ता है, वह 'द्रव्य' है। यह होना 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य मूलक' है। द्रव्य का बदलाव उसकी पर्याय है। हम असल में ऐसे किसी पल या पलांश की खोज नहीं कर सकते, जब द्रव्य पर्याय से और पर्याय द्रव्य से तलाक दिये हुए हो। जहाँ द्रव्य है, पर्याय है; जहाँ पर्याय है, द्रव्य है। द्रव्य की बगल में सात तत्त्व हे। इन्हें ठीक-ठीक जानना सम्यग्दर्शन है। इनसे कर्म-सिद्धान्त का बोध होता है।

आत्मा का प्राप्तव्य

जीव और अजीव दो मूल तत्त्व हैं। जीव के साथ अनादि काल से कर्म और नोकर्म (शरीर रूप) अजीव (पुद्गल) का सम्बन्ध जमा हुआ है। यह सम्बन्ध ही जीव की अशुद्ध या सकलुष अवस्था का द्योतक है। जीव और अजीव के परस्पर निबद्ध होते रहने में आस्रव है, नया कर्म बन्ध है। आस्रव की रोक सँवर है और पूर्व स्थित कर्मों का क्षय निर्जरा है तथा इनका सदा-सर्वदा के लिए सर्वदेश क्षय मोक्ष है। भेदविज्ञानी की यही चरम उपलब्धि है। यही

आत्मा का गन्तव्य है । बन्ध संसार है और अलगाव मोक्ष; अनेकान्तवाद इस रहस्य को जानने की युक्ति है । इस तरह उक्त सात तत्त्वों में आस्था के अभाव में मोक्ष असंभव है ।

धर्म के माने

जैनधर्म में 'धर्म' शब्द कई अर्थो में आया है । द्रव्य के संदर्भ मे धर्म गति और अधर्म स्थिति के सूचक शब्द हैं । धर्म किसी वस्तु के स्वभाव या व्यक्तित्व को भी कहा गया है (धम्मोवत्थुसहावो) । चारित्र को उत्थान देने वाले, उदात्तता के नये आयाम देने वाले तत्त्वों के रूप में भी रत्नत्रय तथा दशधर्मो का निरूपण हुआ है । धर्म दो प्रकार का है– श्रमणों या मुनियों के लिए, श्रावकों के लिए । धर्म यथार्थ में वह है जो प्राणी को उसके पुरुषार्थ की ओर मोड दे, जो उसे दुःखों में से उठाकर निजानन्द की दिशा में ले जाए । धर्म ममत्व या अस्मिता के विसर्जन का उपाय है । धर्म का मार्ग कल्याण का मार्ग है, शान्ति और सुख का मार्ग है ।

पांचव्रत : अणु, महा

जैनधर्म में मुनियों और श्रावकों के लिए अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों का उपदेश है। श्रमण या मुनि इन व्रतों का सर्वांशतः तथा श्रावण या गृहस्थ अंशतः पालन करते है। जब श्रमण इनका पालन करते है तब इन्हें महाव्रत और जब श्रावक करते हैं तो अणुव्रत कहा जाता है।

अप्रमत्तता : भीतरी ताकत

व्रत वस्तुतः मनुष्य को अप्रमत्त और तेजोमय बनाते हैं। वे उसे हिंसा, असत्य, चौर्य, मैथुन या वैषम्य और परिग्रह से विरक्त करते हैं और उसकी भीतरी ताकत को बढ़ाते हैं। इनसे चित्त पकता है और अपने गन्तव्य तक पहुँचने की तत्परता दिखाने लगता है। व्रत सँवर रूप हैं; क्योंकि ये चित्त को निग्रह की ओर ले जाते हैं। अनगारी (श्रमण) महाव्रतों और अगारी (श्रावक) अणुव्रतों का पालन करते हैं। व्रत पाँच है–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

न बांस, न बांसुरी

जैनधर्म की अहिंसा गहरी चीज है, उसे आत्यन्तिक कहकर टाला नहीं जा सकता। पानी छानकर पीना, रात को भोजन न करना इत्यादि करुणा के रूपान्तर हैं। अहिंसा सिद्धान्त है, करुणा व्यवहार; अहिंसा सुरंग है, करुणा भीतर से अबाध फूट पड़नेवाली रसधार। जैनधर्म अहिंसाप्रधान करुणामूलक धर्म है। इस तरह अहिंसा और करुणा एक ही मुद्रा के दो पक्ष हैं। यह अहिंसा जैनधर्म की नींव है, जीवन की नींव है, जन-जीवन की आधारशिला है। यह मनुष्य की अबतक की सांस्कृतिक कमाई है, उसकी बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ आविष्कार। जैनधर्म का सारा जोर अप्रमत्तता पर है। जो अप्रमत्त है, उसके द्वारा हुई स्थूल हिंसा भी अहिंसा की श्रेणी में दाखिल होगी। यह प्रमाद क्या है ? जीवन की श्रेष्ठ धारणाओं के प्रति अनुत्साह प्रमाद है। जो सम्यक्त्व है, पालनीय है, उसके प्रति अनुत्साह या उदासीनता प्रमाद है। अप्रमत्त अर्थात् सजग, प्रबुद्ध, चौकस सतर्क होना धार्मिक होना है। प्रमादी को धार्मिक कहना 'धर्म' की धारणा को कलुषित करना है।

प्रमाद के योग से दूसरे के प्राण दुखेंगे तो वह हिंसा होगी; अप्रमत्त यदि कुछ हुआ है तो वह हिंसा नहीं होगा । जैन अहिंसा अन्तर्मुख है । वह भीतर का आकार है । क्रिया की अपेक्षा क्रिया के भीतरी आकार में उसकी स्थिति है । द्रव्य हिंसा या दीख पड़नेवाली हिंसा, भीतर बैठी हिंसा का ही फलन या प्रतिरूप है । असली दुश्मन भीतर है, बाहर तो उसकी छायामात्र है । जैनधर्म की असली लड़ाई जो भीतर है, उससे है । इसलिए जैन तीर्थंकरों का ध्यान इस स्रोत को सुखाने की ओर गया है । जैनधर्म मन में स्थापित इसी हिंसा को निकाल फेंकने पर जोर देता है । अंकुर गया, फल गया; ना बाँस, ना बाँसुरिया । अहिंसा की जैन धारणा सूक्ष्म है, गहरी है । शोषण, दमन, दोहन, दूसरों के अवसरों की छीन-झपट, संचय, कालाबाजारी, अपनी श्रेष्ठता का मद और आतंक, हुकूमत का रौब, उपेक्षा इत्यादि हिंसा की ही आकृतियाँ हैं । जैनधर्म ने अहिंसा के संदर्भ में इनकी भी चर्चा की है । जब अहिंसा का यह प्रत्यय चित्त पर पूरी तरह आस्फालित होता है तो वह महाव्रत है; किन्तु जब वह चित्त पर या जीवन में

उसके आंशिक रूप में व्याप्त होता है तो वह अणुव्रत कहलाता है ।

सदैव एक

इसी तरह सत्यव्रत है । अहिंसा के गर्भ में सत्य की सत्ता है । जो असत्य का आचरण करेगा; मन से, वाणी से, काया से; वह चोट पहुँचायेगा स्वयं को, अन्यों को । यह हिंसा होगी । हिंसा के त्याग में, असत्य का त्याग गर्भित है । सत्य का पक्षधर क्षमावान्, निर्लोभ, उपहास की चिन्ता न करनेवाला निर्भीक, आत्म-विश्वासी, दृढ़-संकल्पी और स्थितप्रज्ञ होगा । वह उत्तेजित नहीं होगा; स्थिति और संदर्भ की खोज करेगा । प्रलोभन या लालच में नहीं फँसेगा । कुछ लोग उसकी हँसी उड़ायेंगे तो भी वह अपने निर्धारित मार्ग से विचलित नहीं होगा, सत्योन्मुख बना रहेगा । धमकी में नहीं आयेगा, अन्याय से नहीं डरेगा । वह वही कहेगा जो 'है', जो नहीं है, नहीं होना चाहिये उसे नकार देगा । यहाँ इस नकारने में भी उसकी जीवनपद्धति अनेकान्तवादी होगी । नकारने में अविचल, जानने में

अनेकान्तवादी । सत्य जानना, सत्य कहना और सत्य को अपने प्राणों में आत्मसात् होने देना कोई आसान काम नहीं है, यह बड़ी दुर्गम डगर है । सत्यव्रती मन से , वाणी से, कर्म से तीन नही; सदैव एक होता है ।

प्राप्य की व्यवस्था

अचौर्य तीसरा व्रत है । जो दूसरों का प्राप्य है, उसे लेना चोरी है और जो स्वयं का प्राप्य है उसे हासिल न करना अज्ञान है । जो अनीतिमय, अदत्त या अपहृत है, उसका स्वीकार चोरी है । वह स्थान, वह भोजन, वह उपकरण या साधन जो किसी अन्य के प्राप्य थे, मुझे मिले या मैंने लिये, तो यह चोरी है । अचौर्य समत्व का मार्ग है, समाजवादी समाज-रचना की आधारशिला । समाजवाद प्राप्य की सुसंगत व्यवस्था है; पूंजी या साम्राज्यवाद में प्राप्य की विषमता है । जैनधर्म अचौर्य के आचरण की बात करता है । वह चाहता है, जो जिसका प्राप्य है, वह उसे मिले; किसी को क्यों कम या क्यों अधिक वह हो; बल्कि वह तो यह चाहता है कि लोग स्वेच्छा

से स्वयं के प्राप्य का भी विसर्जन सीखें । जैनधर्म कहता है मुनि वहाँ ठहरेगा, उतने में ठहरेगा, इस तरह ठहरेगा कि उसके ऐसा करने से किसी के प्राप्य को कोई क्षति न पहुँचती हो । गृहस्थी या अगारी से भी जैनधर्म यही अपेक्षा रखता है । अचौर्य भी अहिंसा का एक भाग है, वह उसमें बना हुआ है ।

समत्व की अनुभूति

ब्रह्मचर्य स्त्री-पुरुष-समत्व के अन्तर्मुख विकास का शिखर है । यहाँ पहुँचकर साधना इतनी प्रखर हो जाती है कि आत्मा न पुरुष होती है, न स्त्री; उसकी दृष्टि यौनातीत होती है । चारित्र के इस समत्व को ब्रह्मचर्य कहते हैं । इसके अन्तिम पड़ाव पर पहुँचा साधक मिट्टी, सोना, महल, झोपड़ा, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष किसी में फर्क नहीं कर पाता; उसकी दृष्टि निर्मल होती है । इस तरह ब्रह्मचर्य समरसता का सर्वोत्तम रूप है । मोटे तौर पर इसे स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में उदासीनता और विरक्ति के रूप में देखा जाता है; किन्तु यह समत्व और त्याग की अनुभूति का ही रूप है ।

ममत्व पर प्रहार

अपरिग्रह निर्ममत्व का नाम है। 'यह मेरा है' इस प्रकार की संकल्परूप मूर्च्छा परिग्रह है। 'यह मेरा या मेरे लिए' सारे संघर्षों का जनक है। जैन धर्म का इसी मूर्च्छा पर प्रहार है। ममत्व में से समत्व का विकास जैनधर्म की उत्कृष्ट सामाजिक देन है। ममत्व-बुद्धि का त्याग याने अपरिग्रह। गांधी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त, समाजवाद और साम्यवाद इसी धारणा में से विकसित जीवन-पद्धतियाँ हैं। जहां तीखा ममत्व होगा, वहाँ सर्वजनहिताय की भावना का अकुर बैठ ही नहीं, सकता। जैनधर्म का अपरिग्रह व्रत इस तरह की मूर्च्छा का परिहार करता है। यहां भी यह सूक्ष्म है और क्रोध, मान, माया,लोभ इत्यादि भी परिग्रह माने गये हैं।

माध्यस्थ्य भाव

उक्त व्रतों का परिपालन मन को मार्दव में ले जाता है और वहाँ एक अपार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, और माध्यस्थ्य-भावना को जन्म मिलता है। समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री, गुणियों के प्रति आह्लाद,

दु:खियों के प्रति करुणा और जो वामदृष्टि हैं, कुटिल हैं, षड्यन्त्री हैं, विरोधी हैं; उनके प्रति उदासीनता या माध्यस्थ्य की वृत्ति पाँच व्रतों की फलश्रुति है। व्रती विश्वमित्र होगा, संवेदना और सहानुभूति से भरपूर होगा, उदार हृदय होगा, उसका मन रागद्वेष से ऊपर उठा होगा।

जैनधर्म : जनधर्म

जैनधर्म सम्यक्त्व (अर्थात् जो सही है हर हालत में, हर जगह, हर वक्त); औचित्य और उत्तमता पर बल देता है। जो भी हो अपनी श्रेणी में सर्वोत्तम हो, जो भी हो अपनी जगह वास्तविक हो और जो भी हो सही हो—ये जैनधर्म के प्रतिपादनों में अन्तर्भुक्त प्रेरक तत्त्व हैं। वह कहता है, जो सत्य है, उसे उसकी संपूर्ण सापेक्षाओं में ढूँढ़ो; जो उचित है, उसे कहो-करो और अन्ततः देखो कि सत्य तक तुम्हारे जीवन के जहाज का लंगर डल गया है। इतने सबके साथ जो सर्वोत्तम है, श्रेयस्कर है उसे उत्कृष्ट और निर्मल साधनों से प्राप्त कर किसी सुविधा के लिए सिद्धान्तों का समर्पण मत करो। रास्ता लम्बा भले ही हो किन्तु अपावन न हो।

उत्कृष्टता, जहाँ भी हो, उसका वरण करो। जैनधर्म, जनधर्म ही नहीं है, सज्जन धर्म है। उसमें जीवन को ऊँचा उठाने वाले दश धर्मों को बड़ा विशद विवेचन हुआ है। इन दशों के पूर्व 'उत्तम' विशेषण प्रयुक्त है, याने जिस भी गुण का स्वीकार हो वह उसकी उत्तमता में हो। ये दश धर्म है–उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य।

उत्तेजनाओं के बीच शान्तप्रज्ञ

क्षमा उत्तेजना, उकसाव, भड़काव, ईर्ष्या और टीका-टिप्पणी के बीच भी शान्तप्रज्ञ बने रहने की चारित्रिक कला है। क्रोध सभी करते हैं, कर लेते हैं; क्षमा करने की रचनात्मक कला बिरलों को ही आती है। अक्रोध कोई मामूली जीवन-संदर्भ नहीं है। वह आते हुए आक्रमण का बचाव है, आत्मतत्त्व की शोध में कदम रखे हुए साधक के लिए इस कवच की प्रतिपल आवश्यकता है। क्षमा क्रोध का अभाव या अनुपस्थिति है, सिर्फ ऐसा ही नहीं, वह हृदय में सद्विवेक, करुणा और निश्चलता को उगाने-जगाने-

वाला गुण भी है। क्षमा कायर नहीं कर सकता; जिसमें क्षमता है, जो वीर है, जिसमें आध्यात्मिक शौर्य है और जो हर तरह से शक्तिशाली है वही क्षमा कर सकता है। विपन्न क्षमा नहीं करते, वह तो उनकी लाचारी होती है। दूसरी ओर जो सच्चे क्षमावान होते हैं, वे अपने इस गुण पर कोई अभिमान नहीं करते, उलटे अधिक विनयवान और उदारवृत्ति के होते हे। जो प्रामाणिक है, सबल है, विवेकी है, जागृत है, प्रबुद्ध है, प्रज्ञ है, वही क्षमा कर सकता है। इसलिए क्षमा करना ही महत्त्व का नहीं है वरन् यह भी महत्त्वपूर्ण है कि क्षमा कौन कर रहा है ? उत्तमता को सदैव आँखों के सामने बनाये रखना चाहिये। यदि ध्यान से देखा जाए तो क्षमा समस्त चारित्रिक गुणों की माता है।

निर्मद चित्तवृत्ति

मार्दव अहिंसा का ही प्रकारान्तर है। जिसकी चित्तवृत्ति स्निग्ध, शान्त और मद से खाली है, उसके चित्त में मार्दव फैला हुआ है। अहिंसा मन की कर्कशता, क्रूरता और कठोरता को अपदस्थ कर देती है, इस जगह को भरने का काम मार्दव का है। मार्दव

धर्म का पालने वाला किसी के मन को दुखायेगा, इसकी कल्पना स्वप्न मे भी संभव नही है। इस तरह चित्त की करुणावान अवस्था मार्दव है। मार्दव क्षमा का ही एक आयाम है। मार्दव याने मृदुता–चित्त की, कर्म की, वाणी की।

निष्कपट चित्त

आर्जव चित्त की सरलता को कहते हैं। जब चित्त मे कोई कौटिल्य, दुराव, छल, फरेब नहीं होता तो सीधी रेखा-सी उस चित्तवृत्ति को आर्जव कहते हैं। आर्जवधर्मी ऐसे कार्य नही करता जिससे दूसरों की कोई आनुभूतिक क्षति हो, उनके चित्त को ठेस लगे। आर्जव मे भी अहिसा की झलक बनी हुई है। टेढापन जहाँ अन्यों की हानि करता है, वहीं वह आत्मघाती भी है। इससे चरित्र गिरता है और मन पर कलुष जमता है। निश्छलता और निष्कपटता आर्जव की फलश्रुति है।

संचय ही भोग

लोभ की अनुपस्थिति को शौच कहा गया है। लोभ में सभी तरह की अपावनताएँ आ जाती है।

वह दुनिया-भर की अशुचिताओं का एक नाम है। लोभ मन की वह दशा है जब प्राणी आवश्यक संचय होने पर भी और के लिए, और-और के लिए आसमान-पाताल एक कर डालता है। वह संचय की ओर दौड़ता है, उचित-अनुचित पर ध्यान दिये बिना। उसे संचित के भोग की अपेक्षा संचय ही भोग दीख पड़ता है। इस हायहाय में वह अन्यों के अधिकारों का हनन करता है और स्वय को पतन की राह में डाल लेता है। इससे उसका मोह का घनत्व बढ़ता है, ममत्व की मूर्च्छा तीखी होती है और वह धीरे-धीरे अशुचिताओं का घूरा बन जाता है। वैसे अशुचिता के कुटुम्ब में क्रोध, मान, माया सभी आते हैं, पर लोभ इन सबका सरगना है; वह आया कि बाकी सब सर झुकाये चले जाते हैं। इसीलिए लोभ के परिहार को शौच की आधारशिला कहा गया है।

निर्मलता का सिंहासन

सत्य व्रत भी है और धर्म भी। निर्दोष और वास्तविक के मनन, कथन और आचरण को सत्य कहा

जाता है। इसका समावेश स्वभावतः क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच में हो जाता है, तथापि इसकी अपनी सत्ता है। सीधी-सी बात है जो मन बुहर गया है, निर्मल है, वह भला मिथ्या को क्योंकर स्वीकार करेगा ? वह सत्य का पक्षधर होगा ही। सत्य के लिए चाहिये साहस, उसकी अनुभूति में, उसकी अभिव्यक्ति में। सत्य का अनुभव हर आदमी नहीं कर सकता, निर्मलता उसका आसन है, वह वहीं बैठता है। जिसका मन सरल नहीं है, सत्य का उससे कोई रिश्ता नहीं है। सत्य सरलता के परिवार का सदस्य है, वह दुराव या कौटिल्य पर प्रहार करता है। निर्भीकता, निःस्वार्थ, निःसंकोच, और निष्पक्षता के अभाव में सत्य का पालन कठिन है। सत्य केवल कहने-सुनने की चीज नही है; वह सबसे पहिले अनुभूति की, फिर आचरण की और फिर अपनी ओर से बिना डंका बजाये दूसरों के देखने की चीज है।

मन पर चाबुक

संयम इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों से उदासीन होने का नाम है। इन्द्रियों के विषय अनन्त हैं

और प्रायः सभी लिप्त रखने वाले हैं। अच्छे-बुरे सभी विषयों के प्रति अनुत्साहित या अप्रमत्त होने को संयम कहते हैं। मन पर चाबुक लिये खड़े रहो; चाबुक टमकारो मत, रक्खो। मन काबू में आया कि इन्द्रियाँ स्वयं दौड़ी चली आयेंगी। ब्रह्मचर्य में मन का नियमन मुख्य है। संयम ब्रह्मचर्य का ही एक आयाम है, वह तप है, वह आत्मानुशासन है।

तप ज्ञान की आंच

तप कर्मक्षय का प्रमुख साधन है। आँच से मल पिघलता है, मैल टूटता है। संयम की आँच पर चढ़ा मन निर्मल हो उठता है, बारह बान सोना। उसकी खोट खुट जाती है, कालुष्य धुल जाता है। कर्म के आस्रव पर जो रोक लगती है, लगायी जाती है और उसकी निर्जरा के लिए जो कठोर साधना की जाती है, वह तप है। जैनधर्म में स्वाध्याय भी तप है। वह तपों का सम्राट् है। ज्ञान की आँच जैसी खरी कोई आँच नहीं है। स्वाध्याय की भट्टी पर चढ़ा मन निर्मल-निष्कलष हुए बिना नीचे नहीं आता। स्वाध्याय ज्ञान को नित-नया निखार देता है इसीलिए उसे तपों में सर्वश्रेष्ठ तप कहा गया है।

व्यर्थता का त्याग

त्याग अज्ञान का, मल का, कलुष का; एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। आत्मसाधना के प्रकाश में जो आत्मा के सदर्भ में अप्रासगिक, व्यर्थ, निस्सार और निरर्थक है उसके छोड़े जाने को त्याग कहते है। तप के उजाले मे जो मैल दीख पड़ेगा, उसका त्याग होगा ही।

ज्ञान : आत्मा की सही खुराक

आकिचन्य अपरिग्रह का ही एक रूप है। 'यह मेरा है' इस संकल्प-मूर्च्छा से छुटकारा आकिचन्य है। 'मै इस नश्वर, क्षणभंगुर संसार में नगण्य हूँ, कुछ नहीं' इस विनम्रता में से आकिचन्य की सद्वृत्ति का उदय होता है। ममत्व जहाँ भी है, दुःख है, ममत्व या स्वामित्व के विसर्जन का आनन्द ही निराला है। इसके बाद साधक इतना निरापद हो जाता है कि उसे फिर कोई चिन्ता नहीं सालती। मालिकी छोड़ना या विपुल धन-दौलत के होते हुए भी उसमें मूर्च्छा का न होना, आकिचन्य धर्म है। आकिचन्य की यह अनुभूति दुर्लभ है, यह सब में नहीं होती, असल में

यह उन्हें होती है जिन्हें बोधि हुई है याने जो सम्यक्त्व की ओर उन्मुक्त हैं। जो सम्यक्त्व में अविराम जगे हुए हैं, उनका कदम ही आकिंचन्य के मार्ग में उठा हुआ समझो। आकिंचन्य आत्मा की स्वाभाविक भूख है। यह आत्मा की स्वाधीनता का उद्‌घोष है। 'मैं कुछ नहीं हूँ' का बोध आत्मा को ज्ञान की दिशा में प्रवृत्त करता है। सम्यग्ज्ञान ही आत्मा की असली खुराक है। यथार्थ में आकिंचन्य की अनुभूति मन को निर्मद बनाती है और आत्मा को अलौकिक आनन्द की ओर अग्रसर करती है।

नौ=दस

ब्रह्मचर्य दसवाँ धर्म और चौथा व्रत है। यह नौ धर्मों का योगफल है। इसमें क्षमा से आकिंचन्य तक के नौ धर्मों का सार समाया हुआ है। जिसमें ये नौ हैं, उसके पास दसवाँ स्वयं है। ब्रह्मचर्य की चित्त पर जो मुद्रा है, वह समत्व की है। जो एक बार समता की भूमिका में आ गया, उसे फिर किसी अन्य भूमिका में जाने की जरूरत नहीं है। 'आत्मवतसर्वभूतेषु'- 'सारे प्राणी मुझ जैसे हैं' की स्वस्थ भूमिका में ले आने के लिए जैनधर्म ने सम्यक्‌चारित्र क समीचीन

विकास की बात कही है। सबसे पहले श्रद्धा, फिर ज्ञान, फिर चारित्र; उत्तरोत्तर, उत्तमोत्तम। यह है जैनधर्म का नदी की धार की तरह निर्मल गतिमान रूप। इसमें अवगाहन करनेवाला आत्मा कैवल्य तक पहुँचता है।

श्रावकीय संस्करण

दस धर्म आत्मा को परिष्कार के नये आयाम देते हैं। उसका स्वस्थ आस्फालन करते हैं, उसे निखारते हैं। इससे कर्म की तीखी धार रुकती है और पहिले से आयी हुई धार सूखती है। मोक्ष इस रुके हुए जल के अभाव की स्थिति है। इसे पारिभाषिक शब्दावली में जीव का पुद्गल से सर्वदेश वियोग कहा जाएगा। इन धर्मों के अलावा चित्तशुद्धि के और-और उपाय तथा सावधानियाँ हैं; कुछ मुनियों के लिए, कुछ श्रावकों के निमित्त, किन्तु यदि मुनियों के लिए निर्धारित क्रियाओं का एक श्रावकीय संस्करण भी ले लिया जाए तो वह जीवन को अभिनव प्रेरणा दे सकता है। संवर के हेतु रूप में गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा इत्यादि का प्रसंग आता है। श्रावक भी

यदि इनके अणु रूप का अभ्यासी बने तो वह शक्ति का असाधारण पुंज सिद्ध हो सकता है। इनके सामाजिक संस्करण भी संभव है।

ज्ञान-जुगाली

अनुप्रेक्षा आत्मा की ज्ञान-जुगाली है। इससे रसास्वाद की तीव्रता बढ़ती है और आत्मा अपने निजत्व के परिणमन के लिए उत्कण्ठित और तत्पर बनती है। इससे जीव से पुद्गल का गठजोड़ शिथिल पड़ता है और मुमुक्षु के पाँव तेजी से उठने लगते हैं; गुप्ति तीन, समिति पाँच और अनुप्रेक्षा बारह हैं।

मन, वचन और कर्म के नियमन को गुप्ति कहा जाता है। ये तीनों अशुचिताओं के सूक्ष्म द्वार हैं। इनसे जीव और पुदगल के बन्धन प्रगाढ़ होते हैं और निग्रह से शिथिल होते जाते हैं। मुनि तो इन पर शासन करता ही है, अगारी (श्रावक) के लिए भी इनका अणु-रूप उपकारी हो सकता है। काम कठिन है, असंभव नहीं।

समिति बड़ा अर्थगर्भित शब्द है। अच्छा ही है कि इसका एक सामाजिक संदर्भ भी है। शब्द

के रूप में आम आदमी भी इसका चेहरा जानता है। जैन आचार में चित्त-संस्था को स्वस्थ और लक्ष्यबिन्दु पर बनाये रखने के लिए पाँच समितियाँ हैं। हैं वस्तुतः ये मुनियों के लिए, किन्तु श्रावक वर्ग यदि इनका कोई श्रावकीय संस्करण अपने आचरण में लाता है तो यह इसका एक नया आयाम होगा। जो मुनि गुप्ति-नियमन में नहीं जा पाते, उनके लिए समिति उपकारी हैं। ये पाँच हैं–ईर्या-समिति, भाषा-समिति एषणा-समिति, आदान-निक्षेपण-समिति, उत्सर्ग-समिति।

चौकस चलो : ईर्या का अर्थ है–ठीक चलो, देखकर चलो, अहिंसक शैली में चलो, जागृत और प्रबुद्ध चलो। हर कदम सावधान हो, मन जगा हुआ हो, कर्म सोचा हुआ हो।

बोलो, बको मत : भाषा-समिति का आशय है—नपा-तुला बोलो, कम बोलो, प्रयोजनभूत बोलो, सही बोलो, अनुभय बोलो, अहिंसक और स्पष्ट बोलो, अनर्गल, असंयत और निरुद्देश्य मत बोलो। भाषा पर नियमन भाषा-समिति का उद्देश्य है।

लोकेषणा से बचो : एषणा-समिति निर्दोष रहने, व्यर्थ की आकांक्षाओं और परिग्रह से बचने की ओर संकेत करती है। लोकेषणा इन दिनों का सबसे अधिक लुतहा और असाध्य रोग है। श्रावकीय संदर्भ में इससे बचने का इशारा भी इसमें सन्निहित है।

उतावली मत करो : आदाननिक्षेपण-समिति कहती है–जल्दबाजी या उतावली मत करो, गलत अनुचित या प्रमत्त कुछ भी मत करो बिना देखे न लो, न दो, न रखो, न उठाओ; जो कुछ स्वीकार करो उसके बारे में सोचो और जो सूक्ष्म-स्थूल लो-दो, धरो-उठाओ उसमें अहिंसक सावधानी बरतो।

मलमूत्र-विसर्जन : उत्सर्ग-समिति का मुनिवर्ग तो पालन करता ही है, श्रावकीय दृष्टि से भी इसका आज के संदर्भ में अत्यधिक महत्त्व है। मल का, मूत्र का त्याग हम वहाँ करें जहाँ उचित हो, जहाँ-तहाँ वैसा न करें। ऐसा करने में अहिंसक दृष्टि तो काम करेगी ही, सामाजिक शालीनता का भी निर्वाह होगा। मलमूत्र हम वहाँ करें जहाँ उचित हो, जहाँ

वैसा करने से किसी प्राणी का अपकार न होता हो, कोई रोग न फैलता हो कोई और बुराई न पनपती हो।

इस तरह उक्त समितियों में मुनि के लिए त्याग-तप की भूमिका का प्रावधान है और नागरिक वर्गके लिए एक हित-मित-सुखद जीवन का सुझाव है ऐसे जीवन का सुझाव जिससे मनुष्य की गरिमा बढ़ती है। मुनि तो इनका बड़ी अप्रमत्तता, सूक्ष्मता और सावधानी से पालन करते ही हैं, यदि अगारी याने गृहस्थी भी करता है तो जीवन में सुषमा, सुख और निरापद वृत्ति के विकास की सारी संभावनाएँ खुल जाती हैं। आधुनिक जीवन में ईर्या यातायात के नियमन में, भाषा अनर्गल भाषण और लेखन मे, एषणा अपराधों की रोक में, आदान-निक्षेपण किफायत में और उत्सर्ग समिति ग्राम-नगर को अधिक स्वस्थ-सुखद बनाने में हमारी मदद कर सकती हैं। अणुव्रतों की तरह अणुगुप्तियाँ और अण-समितियाँ भी एक सदाचारी श्रावक का रूप निर्धारित कर सकती हैं। तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर ने एक श्रावक को मुनि जीवन की ओर अभिप्रेरित करने के लिए कई सदुपदेश दिये हैं।

अनुप्रेक्षा से चित्त शुद्ध होता है, उसकी प्रांजलता बढ़ती है। वह उत्थान की ओर वेग से पग उठाने लगता है।

आज कुछ, कल कुछ : पहली अनुप्रेक्षा अनित्य है। संसार क्षणभंगुर है। माता या धरती की गोद में आने से पहले प्राणी को अनित्यता की गोद में आना होता है; इसलिए यह संसार नाशवान है, क्षणस्थायी है, आज एक रूप है, कल दूसरे रूप। इसमें से सार ढूंढ़ो। अनित्यता में से नित्यता, विषमता में से समता, निस्सारता में से सार की खोज करो। जैन या श्रमणा संस्कृति का यही सार है।

कोई नहीं : दूसरी अनुप्रेक्षा अशरण है। प्राणी की शरण प्राणी ही है; अन्य कोई नहीं। सब अपने-अपने में हैं, यहाँ कौन-किसकी सुनता है; सब काम-काजी हैं और फ़िर जब मत्यु द्वार खटखटाती है तब कौन-किसकी सहायता कर सकता है? उसके सामने सब दीन हैं नितान्त असहाय। उसका सामना किया जाए; मृत्यु पर्यायान्तर है. द्रव्य वही है; इस रहस्य को जानो और निजत्व को पाने की ओर पग उठाओ।

केन्द्र की तलाश : तीसरी अनुप्रेक्षा है संसार। सतत घूमो रहँट की तरह, कोल्हू में जुते बैल की भाँति। भ्रान्ति में जुते पशु की तरह अविराम निरुद्देश्य भागो। आत्मा अनुप्रेक्षण करता है, 'मैं घूम रहा हूँ।' मेरा केन्द्र क्या है, मैं क्या हूँ, मेरा स्वरूप क्या है; यह संसार है, घूमना इसका स्वभाव है, क्या मुझे भी इसके साथ सतत घूमना है। इस भ्रमण का कोई समाधान नहीं है क्या?

मुझसे भिन्न : चौथी अनुप्रेक्षा है एकत्व। मैं अकेला हूँ, किन्तु असहाय नहीं हूँ। स्वाधीन हूँ। पुरुषार्थ करने पर स्वयं को जानना असंभव नहीं है, किन्तु ये जो मुझे घेरे हुए हैं, ये पर हैं, मुझसे भिन्न। इस अनुप्रेक्षण में स्व-पर-विज्ञान की भूमिका सुस्थित है। ज्ञान की इस जुगाली से भीतर के नेत्र उघड़ते हैं और प्राणी अपने स्वरूप में प्रवेश के लिए उल्लसित हो उठता है। एकत्व पुरुषार्थ का प्रेरक तत्त्व है। इससे पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए कदम तेज पड़ते हैं, प्रमाद छूटने लगता है और उत्साह जागने लगता है।

जड़-चेतन जुदा : पाँचवीं अनुप्रेक्षा है अन्यत्व की अनुभूति की। जड़ चेतन पृथक् हैं। दोनों दो भिन्न द्रव्य हैं, दोनों के व्यक्तित्व अलग-अलग हैं। यहाँ से चित्त सात तत्त्वों के श्रद्धान और छह द्रव्यों के परिज्ञान में प्रवेश करने लगता है और रत्नत्रय के माध्यम से मोक्ष-महल के दुआर खुलने लगते हैं। धीरे-धीरे जीव-पुद्गल-संबन्ध की यथार्थता का बोध आत्मा को होता है और इनमें एकत्व की भ्रान्ति टूट जाती है। अन्यत्व की आस्था प्रशस्त होती है और यही मोक्ष तक उसे स्फूर्त रखती है।

प्रमाद, अलविदा : छठी अनुप्रेक्षा है अशुचित्व। अशुचिता की अनुभूति प्रमाद का प्रस्थान-बिन्दु है। यह शरीर, यह संसार अशुचिताओं और अपावनताओं का घर है। मैं पावन स्वाधीन इन अपावनताओं से कैसा घिरा हुआ हूँ ? क्या मैं अपने निष्कलुष रूप में प्रवेश नहीं कर सकता ? अपावनता की अनुभूति चित्त को पावनता की ओर अग्रसर करती है। प्रमाद अर्थात् अच्छाई के लिए अनुत्साह समाप्त हो जाता है।

रोकने का उपक्रम : सातवीं अनुप्रेक्षा आस्रव है। कर्म उमड़ते चले आ रहे हैं, आत्मा इन से ढंक रहा है। योग-छिद्रों से कर्मजल जीव रूपी जहाज में आता जा रहा है, जहाज के भव-समुद्र में डूबने की आशंका बराबर बढ़ रही है। इस जल को रोका जाए, ऐसा बोध ही इस अनुप्रेक्षा का फल है। बोध के साथ ही आत्मा आस्रव को रोकता है और रुके हुए को खत्म करने की ओर प्रवृत्त होता है। रोकने का सूत्रपात इसी अनुप्रेक्षा में सन्निहित है।

कितना काम और : आठवीं अनुप्रेक्षा संवर है। संवृति या संवरण आते हुए कर्म-प्रवाह पर रोक तो है ही, रुके हुए के विनाश की भूमिका भी है। इससे साधक के सामने एक योजना आ जाती है, कितना काम करने को है ? इस चिन्तन में सीमांकन हो जाता है। इस तरह कर्म की तीखी धार शिथिल-मन्द हो जाती है।

मल-मुक्ति : निजरा नवीं अनुप्रेक्षा है। जो कर्म रुके हुए हैं, उनका क्षय निर्जरा है। यह स्वानु-भूतिक क्रिया है। जैसे-जैसे आत्मबोध प्रखर होता

जाता है, कर्म मन्द होते जाते हैं। चित्त की निर्मलता मल-मुक्ति का उपक्रम है।

स्वरूपाचरण : ग्यारहवीं अनुप्रेक्षा लोक है। यह भ्रमण-वैविध्य की सूचक है। मैं इसमें कहाँ नहीं भटका, कितनी बार नहीं भटका, किन-किन योनियों में नहीं गया, मैंने कितने त्रास सहन नहीं किये; क्या इस आवागमन पर कोई रोक संभव है? इस तरह के चिन्तवन से आत्मा स्वरूपाचरण की मुद्रा में आ जाता है। इसे ही आत्मबोध कहते हैं।

नसैनी पर पाँव : बोधिदुर्लभ ग्यारहवीं अनुप्रेक्षा है। 'बोधि' रत्नत्रय को कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र बोधि है। यह मोक्ष का मार्ग है। बोधि याने सम्यक्त्व की ओर नेत्रोन्मीलन। यह दुर्लभ है, किन्तु असंभव नहीं। बोधि मोक्ष-महल की नसैनी पर पहिला मजबूत पग है, कर्म-मल का गुरुत्व कम हुआ कि आत्मा ऊर्ध्वग हुआ।

वस्तुस्थिति की डगर : बारहवीं अनुप्रेक्षा धर्म है। रत्नत्रय धर्म हैं, क्षमादि दस धर्म हैं। इनकी विवेचना ऊपर हुई है। आत्मस्थित होने की यह

स्थिति श्रेयस्कर है। धर्म आत्मा को उसके निजत्व में सुस्थिर करता है। वह भेदविज्ञान का मूल आधार है, स्वस्थ दृष्टि और बोध है। इसीलिए यह अन्तिम अनुप्रेक्षण है। वास्तव में अनुप्रेक्षण का यह श्रम सुविधा के लिए है, यह इतनी तीव्रता में होता है कि इनके घटित होने का कोई समय निर्धारित करना असंभव ही होता है।

इनके अलावा जैनधर्म में ध्यान और स्वाध्याय का भी महत्त्व है। इन दोनों के सुखद मणि-काचन संयोग से ही मोक्षमार्ग अधिक सुविधाजनक और निष्कण्टक बन जाता है। ध्यान क्या है? तीव्र चिन्ता का किसी एक पदार्थ में ठहर जाना ध्यान है। यथार्थ की ओर उन्मुख ध्यान को उत्कृष्ट कहा गया है। स्वाध्याय से ध्यान एकाग्र होता है; इसीलिए स्वाध्याय को तप माना गया है। यह आभ्यन्तर तप है। स्वाध्याय से आत्मा आस्फालित होती है और तत्त्वार्थबोध होता है। इसके पाँच भेद हैं।

वाचना : इस स्वाध्याय के अन्तर्गत पढ़ा जाता है, पढ़कर सुनाया जाता है। ज्ञान तक इस तरह की

पहुँच आदमी को खुद को तिराती है और दूसरों को भवसागर तैरकर पार करने की आत्म-कला सिखलाती है। वाचना आरम्भ है, अनुप्रेक्षा अन्त। अनुप्रेक्षा तक पहुँचते-पहुँचते ग्रन्थ व्यर्थ हो जाते हैं। सब कुछ आत्मसात् हो जाता है, आत्मा का अपना धन। अनुप्रेक्षा आत्मबोध का परिणाम है।

पृच्छना : यह स्वाध्याय का दूसरा सोपान है। सुनो या पढ़ो और उसे स-तर्क प्रश्नों द्वारा मांजो। मंजी हुई उज्ज्वल निःशंक चीज अपनाओ। जहाँ भी शंका हो उसका निश्छल समाधान करो, उसे उसकी पूर्णता में जानो। जानने की भावना से पूछा गया प्रश्न प्रश्नकर्ता को समृद्ध करता है और तिरस्कार या अवमानना के लिए पूछा गया सवाल उसे रसातल की ओर ले जाता है। इस तरह पृच्छना तप की श्रेणी में आकर आत्माभिमुख हो जाती है।

आम्नाय : इस स्वाध्याय के अन्तर्गत शुद्ध उच्चारण और सम्यक् बोध द्वारा अपने प्रयोजनभूत की ओर आगे बढ़ा जाता है।

धर्मोपदेश : इसे भी स्वाध्याय माना गया है। इससे उपदेशक मंजता है और उपदिष्ट समृद्ध होता है।

अनुप्रेक्षा : यह जुगाली है। इसमें स्वयं वक्ता स्वाध्याय है। यहाँ आकर स्थल उपकरण द्रव्य-श्रुत लगभग व्यर्थ हो जाते हैं। अनुप्रेक्षा निर्ग्रन्थों का स्वाध्याय है। न गाँठ, न गाँठ में कोई किताब। आत्मा ही ग्रन्थ, आत्मा ही वाचक, पृच्छक, उपदेशक और अनुप्रेक्षक।

इस तरह जैनधर्म, आत्मान्वेषण का धर्म है चित्तशुद्धि का पराक्रम है, आत्मोपलब्धि का अभिक्रम है।

यह तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर जैसे आत्मजितों का धर्म है, उनका जो स्वयं को जीतने के लिए अनुक्षण जगे रहते हैं। यह जनधर्म है, जनगण-मन-धर्म है, विश्वधर्म है।

○○○